जिनपूजा विधि
एवं
जिनभक्तों की गौरवगाथा...

द्रौपदी द्वारा जिनप्रतिमा पूजन

(श्री ज्ञातासूत्र मूलपाठ-16वाँ अध्ययन)

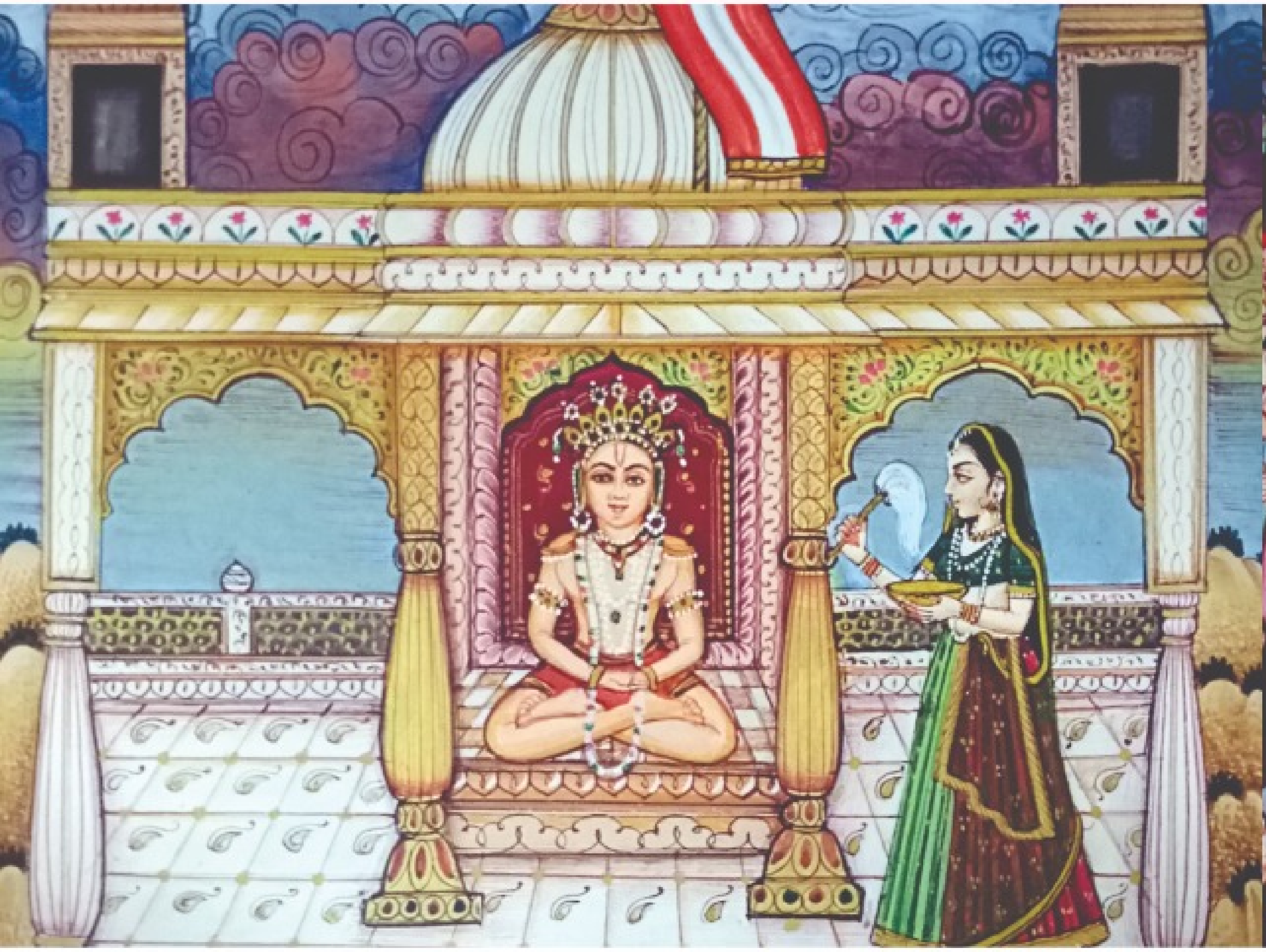

प्रतिमापूजन ग्रंथमाला (पुष्प-1)

भूषण शाह

Mamta Creation
7738408740

जिनभक्तों की गौरवगाथा

✻ देवलोक से दिव्य सानिध्य ✻

प.पू. गुरुदेव श्री जम्बूविजयजी महाराज

✻ संपादक ✻

भूषण शाह

✻ प्रकाशक/प्राप्ति स्थान ✻

मिशन जैनत्व जागरण

'जंबूवृक्ष' सी/503-504, श्री हरि अर्जुन सोसायटी,
चाणक्यपुरी ओवर ब्रिज के नीचे,
प्रभात चौंक के पास, घाटलोडीया
अहमदाबाद -380061 (गुजरात)
मो. 9601529534, 9408202125

जिनभक्तों की गौरवगाथा

© लेखक एवं प्रकाशक
* प्रतियाँ : 1000
* प्रकाशन वर्ष : वि. सं. 2077, ईस्वी सन् 2020
* मूल्य : 100 ₹
* न्याय क्षेत्र : अहमदाबाद

प्राप्ति स्थान

'मिशन जैनत्व जागरण' के सभी केन्द्र

अहमदाबाद
101, शान्तम् एपार्ट.
हरिदास पार्क,
सेटेलाइट रोड,
अमहदाबाद

जयपुर (राज.)
आकाश जैन
ए/133, नित्यानंद नगर
क्वीन्स रोड, जयपुर

नाशिक (महा.)
आनंद नागशेठिया
641, महाशोबा लेन
रविवार पेठ,
नाशिक (महा.)

आग्रा (उ.प्र.)
सचिन जैन
डी-19, अलका कुंज
खावेरी फेझ-2
कमलानगर - आग्रा

भीलवाड़ा (राज.)
सुनिल जैन (बालड़)
''सुपार्श्व'' जैन मंदिर के पास
जमना विहार-भीलवाड़ा

मुंबई
हिन्दी ग्रंथ कार्यालय
९, हीराबाग, सीपी टेन्क,
मुंबई - ४००००४
फोन : **98208 96128**

मुंबई
हेरत मणियार
ए/11 , ओम जोशी अपार्ट
लल्लुभाई पार्क रोड,
ऐंजललेंड स्कूल के सामने
अंधेरी (वेस्ट) मुंबई

Bangalore
Premlataji Chauhan
425, 2nd Floor,
7th B Main, 4th Block
Jaynagar, **Bangalore**

लुधियाणा
अभिषेक जैन,
शान्ति निटवेर्स
पुराना बाजार
लुधियाणा (पंजाब)

उदयपुर (राज.)
अरुण कुमार बडाला
अध्यक्ष अखिल भारतीय
श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक
युवक महासंघ उदयपुर शहर
427-बी, एमराल्ड टावर,
हाथीपोल,
उदयपुर-313001 (राज.)

* प्रस्तुत पुस्तक पू. साधु-साध्वी भदवंतों को पत्र प्राप्त होने पर भेंट स्वरूप भेजी जाएगी। * आवश्यकता न होने पर पुस्तक को प्रकाशक के पते पर वापस भेजने का कष्ट करें। * आप इसे Online भी पढ़ सकते हैं.... www.jaineliabrary.org. पर। * पुस्तक के विषय में आपके अभिप्राय अवश्य भेजें। * पोस्ट से या कुरियर से मंगवाने वाले प्रकाशक के एड्रेस से मंगावा सकते हैं।

* मुद्रक : भाग्य ग्राफिक्स (93270 57627)

पुष्प समर्पण

मेवाड़ देश में 33 साल विचरण करके
मेवाड़ का उद्धार करने वाले
प.पू.आ.जितेन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.
एवं उनके शिष्य-प्रशिष्य
पू.आ.भ.पद्मभूषणरत्न सूरिजी म.
पू.आ.भ. निपुणरत्न सूरिजी म.
को प्रस्तुत पुष्प
सादर समर्पित

- भूषण शाह

अनुक्रमणिका

क्र.		पृष्ठ
	हृदय की बात	6
1.	जिनमंदिर जाने के लाभ	7
2.	तो... चलो कदम उठाएँ	8
3.	प्रतिमा अभिषेक का माहात्म्य	13
4.	अष्टप्रकारी पूजा की विधि एवं प्रभाव	13
5.	जिन पूजा का प्रभाव	24
6.	जिनपूजा तारणहारी..	24 & 35
7.	गिरनार के श्री नेमिनाथ भगवान की प्रतिमाजी	37
8.	गत चौबीसी के अषाढ़ी श्रावक द्वारा निर्मित श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ प्रभु	42
9.	मथुरा का देवनिर्मित स्तूप एवं प्रतिमाजी	53
10.	जीवन्त स्वामी की प्रतिमाजी	60
11.	गुरु गौतमस्वामीजी ने भी की तीर्थयात्रा	63
12.	अत्वार्य वज्रस्वामी द्वारा प्रभुपूजा के लिए पुष्पों की प्रेरणा	69
13.	अंजना सुंदरी दुःखी क्यों हुई?	70
14.	आ. स्थूलीभद्रसूरिजी द्वारा प्रतिष्ठित नाकोड़ा तीर्थ	72
15.	करकंडु द्वारा निर्मित कलिकुंड तीर्थ	74
16.	अवंति सुकुमाल द्वारा निर्मित अवंति पार्श्वनाथ तीर्थ	77
17.	श्री शत्रुंजय महातीर्थ	80
18.	अभयकुमार द्वारा आर्द्रकुमार को उपहार	81

क्र.		पृष्ठ
19.	महासती दमयन्ती को मिला तिलक चढ़ाने का फल	90
20.	महाराजा संप्रति द्वारा सवाक्रोड जिन मन्दिर निर्माण	96
21.	ओसवाल वंश और मूर्तिपूजा	99
21.	महाराजा श्रेणिक द्वारा जिनालय निर्माण	100
22.	राजा खारवेल द्वारा तीर्थ निर्माण	103
23.	महाराजा कुमारपाल द्वारा पुष्प पूजा	106
24.	महामंत्री पेथड़शा की परमात्म भक्ति	110
25.	उदायन मंत्री द्वारा सिद्धाचल तीर्थोद्धार	113
26.	तीर्थ यात्रा के प्रभाव से माणेकशाह बने माणिभद्रवीर	125
27.	दंडनायक अंबड़ द्वारा शकुनिका विहार का उद्धार	127
28.	श्रावक जगड़ की उदार भावना	132
29.	धन्नाशेठ का अमर सर्जन- श्री राणकपुर तीर्थ	133
30.	महामंत्री श्वर विमल द्वारा आबूतीर्थ का उद्धार	137
31.	मित्रों की अमर गाथा-सवा सोम की टोंक	139
32.	लावे-लावे मोतिशाह सेठ न्हवण जल लावे रे	143
33.	उजमफई की दृढ़ता	145
34.	तोता मनुष्य बना	146
35.	तीर्थ सुरक्षा हेतु बलीदान	149
36.	वीर विक्रमसिंह की वीरता	153
37.	तिलक हेतु बलिदान	157

हृदय की बात

जिनभक्तों की गौरव गाथा

दर्शनाद दुरितध्वंसी, वन्दनाद वान्छितप्रदः।

पूजनात् पुरकः श्रीणां, जिनः साक्षात सुरद्रुमः।।

श्री जिनेश्वर भगवान का दर्शन पाप का, दुःख का नाश करता है... वन्दन मनवांछित को देने वाला है... पूजन लक्ष्मी को पूरने वाला है... इसीलिए श्री जिनेश्वर भगवान साक्षात् कल्पवृक्ष हैं।

'जिनभक्तों की गौरवगाथा' पुस्तक हमने विशेषतः मेवाड़, मालवा, पंजाब, हरियाणा, उत्तरप्रदेश आदि प्रान्तो को ध्यान में रखकर संपादित की है, **जहाँ पू.गुरुभगवंतों का विचरण कम है और मंदिर, मूर्तिविरोधी पंथ की स्थापना से हजारों साल पूर्व के हैं... मंदिरमार्गी गुरुभगवंतों का विचरण कम होने पर शनैः-शनैः लोग अन्य पंथ में शामिल हो गए.. लेकिन वे सभी मूल मंदिरमार्गी ही हैं ये सच वो खुद भी स्वीकारते हैं।**

ओसवाल समाज संपूर्ण मूर्तिपूजक ही है, क्योंकि ओसवाल समाज के संस्थापक गुरु आ. रत्नप्रभसूरिजी महाराज जी उपकेश गच्छ के साधु थे और उन्होंने ओसिया आदि कई मंदिरों की प्रतिष्ठा करवाई थी। 'जिनभक्तों की गौरवगाथा' खंड में हमारे पूर्वजों द्वारा बनवाए हुए मंदिर व उनकी भावना की यशोगाथा है। वाचकगण इस भावना को समझ पाएँ इसलिए कहानी के स्वरूप में यशोगाथाएँ प्रस्तुत की गई है।

प्रस्तुत पुस्तक के संपादन एवं प्रुफ में हमारे मित्र हीमांशु जैन, आशिष तालेडा एवं अभिषेक जैन का सहयोग रहा है। अतः मैं उनका आभारी हूं।

जिन मंदिर और जिनबिंब के महात्म्य को स्वीकार कर हर भव्य प्राणी उसकी साधना-आराधना द्वारा मोक्ष को प्राप्त करे इन्हीं भावना के साथ....

-भूषण शाह

जिनमंदिर जाने से लाभ

✻ **विघ्न नाशः** प्रभु का दर्शन व पूजन भाव मंगल रूप है। उस मंगल से साधना मार्ग में आने वाले विघ्नों का नाश होता है और आत्मा मोक्षमार्ग में निर्विघ्नता से गति कर पाती है। परमात्मा का नाम उनकी आकृति, उनकी प्रतिमा तथा उनका रुप-स्वरूप सर्वथा एवं सर्वदा उत्कृष्ट मंगल सिद्ध होता है।

✻ **चित्त प्रसन्नता :** प्रभु की भक्ति करने से शुभ भाव पैदा होता है, उस शुभ भाव से चित्त प्रसन्न बनता है। कृतज्ञ भक्त हृदय में प्रभु के गुणों का सदैव स्मरण रहता है। उस स्मरण के फल स्वरूप ही दिन उगता है और उसे प्रभु के दर्शन व पूजन करने की अभिलाषा पैदा होती है। एवं सकारात्मक उर्जा प्राप्त होती है।

मंदिर जाने के फायदे

1. प्रभु दर्शन की इच्छा करने से 1 उपवास जितना फल मिलता है।
2. जाने के लिए खड़ा होने से 2 उपवास जितना फल मिलता है।
3. जाने के लिए कदम उठाने से 3 उपवास जितना फल मिलता है।
4. जिनालय की ओर चलने से 4 उपवास जितना फल मिलता है।
5. जिनालय तक आधा मार्ग पार करने से 15 उपवास जितना फल मिलता है।
6. जिनालय दिखाई देने पर 1 मास के उपवास जितना फल मिलता है।
7. जिनालय पहुँचने पर छः मास के उपवास जितना फल मिलता है।
8. जिनालय के द्वार में आने से 1वर्ष के उपवास जितना फल मिलता है।
9. जिनालय की प्रदक्षिणा देने से 100 वर्ष के उपवास जितना फल मिलता है।
10. प्रभु की पूजा करने से 1000 वर्ष के उपवास जितना फल मिलता है।
11. परमात्मा की स्तुति-स्तवन करने से अनंत गुणा फल मिलता है।

2000 वर्ष प्राचीन 'पउम चरियं' ग्रंथ में उल्लेख - वि.सं. में वीर निर्वाण-530 विसंगति लग रही है। रचित उद्देश 32, श्लोक नं. 88 से 93

तो चलो कदम उठाएँ...

जिन मंदिर प्रवेश और पूजा विधि का क्रम–

1. निसीहि बोलकर प्रवेश करना चाहिए।
2. परमात्मा का मुख देखते ही 'णमो जिणाणं' कहना चाहिए।
3. अर्धावनत प्रणाम कर तीन प्रदक्षिणा देनी चाहिए।
4. मधुर कंठ से प्रभु की स्तुति बोलनी चाहिए।
5. दूसरी निसीहि बोल कर गभारे में प्रवेश करना चाहिए।
6. प्रतिमाजी के ऊपर से निर्माल्य उतारना चाहिए।
7. प्रतिमाजी पर मोर पींछी करना चाहिए।
8. सर्वप्रथम जल से अभिषेक करना चाहिए।
9. मुलायम वस्त्र से केसर दूर करना चाहिए।
10. जरूरत हो तो ही विवेक पूर्वक वालाकुंची का प्रयोग करना चाहिए।
11. पंचामृत से अभिषेक करना चाहिए।
12. शुद्ध जल से अभिषेक कर चिकनाहट दूर करना चाहिए।
13. पबासण ऊपर दो पाटलूँछणा करना चाहिए।
14. प्रतिमाजी के ऊपर तीन अंगलूछणा करना चाहिए।
15. बरास पूजा करनी चाहिए।
16. चंदनपूजा, पुष्पपूजा, धूपपूजा, दीपकपूजा क्रमशः करनी चाहिए।
17. अक्षतपूजा, नैवेद्यपूजा और फलपूजा करनी चाहिए।
18. घंटनाद करना चाहिए।
19. चामर नृत्य करना, दर्पण में प्रभु का मुख देखना।
20. अवस्था त्रिक भावित करना।
21. तीसरी निसीहि बोलकर चैत्यवंदन शुरू करना चाहिए।
22. चैत्यवंदन दरम्यान प्रमार्जना त्रिक, दिशात्याग त्रिक, आलंबन त्रिक, मुद्रा त्रिक और प्रणिधान त्रिक का पालन करना चाहिए।
23. पूजा के उपकरण यथा स्थान पर रखने चाहिए।

24. विदाई के समय स्तुति स्तोत्रादि बोलना चाहिए।

25. भगवान की ओर पीठ न पड़े इस प्रकार बाहर निकलना चाहिए।

26. **मंदिर के ओटले** पर बैठकर प्रभुभक्ति को हृदय में स्थिर कर नवकार-मंत्र का स्मरण कर विदाई लेनी चाहिए।

पाँच अभिगम-

अभिगम=विनय जैसे दुनिया में प्राइम मिनिस्टर को मिलने जाते वक्त कुछ उचित वर्तन-व्यवहार करना पड़ता है वैसे जिनमंदिर में जाते वक्त प्रमुख पाँच प्रकार के विनय करना अतिआवश्यक है।

1. **सचित्त का त्याग** - अपने योग्य वस्तु पुष्पहार, राजचिन्ह, मुखवास, दवा,वगैरह पदार्थों को मंदिरजी में प्रवेश करने के पहले बाहर छोड़ देना चाहिए अगर भूल से ले गए तो फिर अपने लिए उपयोग नहीं कर सकते। जो परमात्मा की भक्ति में उपयोगी हो तो जिनपूजा में ले सकते हो, नहीं तो विसर्जन कर देना चाहिए।

2. **अचित्त का अत्याग** - परमात्मा की पूजा के लिए धूप-दीप-अक्षत-नैवेद्य आदि अचित, फल-फूल-जल आदि सचित वस्तुओं को ले कर जिनालय में प्रवेश करना चाहिए । कम से कम दूध का एक कलश ले जाना ही चाहिए।

3. **उत्तरासन** - जिनालय के द्वार में प्रवेश के पहले पुरुष उत्तरासन करें यानि खेस से शरीर अलंकृत करे। यह बहनों के लिए नहीं है।

4. **अंजलि** - मंदिरजी में प्रवेश करते ही सर्व प्रथम देवाधिदेव का मुख देखें फिर दो हाथ जोड़ कपाल पर लगाकर मस्तक थोड़ा झुकाकर 'नमो जिणाणं' बोलना चाहिए।

5. **प्रणिधान** - जिनालय में प्रवेश करने के पश्चात् जब तक बाहर न निकले तब तक मन-वचन-काया को परमात्म भक्ति के योगों में एकमेक बना देना यह पाँचवा विनय है। जैसे कोई वैज्ञानिक लेबोरेटरी में प्रवेश करने के बाद अपने संशोधन में कैसे एकमेक बन जाता है? डाइनिंग रुम में गया हुआ भूखा आदमी भोजन करने में कैसा आसक्त बन जाता है? वैसे एकाग्रचित्त परमात्मा की भक्ति में बनना चाहिए, तभी परमात्म पूजा का समुचित फल मिलता है।

पूजा करते समय ध्यान में रखने योग्य सात प्रकार की शुद्धि-

अंग वसन मन भूमिका, पूजो पगरण सार।

न्याय द्रव्य विधि शुद्धता, शुद्धि सात प्रकार।।

विधिपूर्वक स्नान करके पूजा के वस्त्र पहनकर अष्टप्रकारी पूजा की वस्तुएँ हाथ में लेकर जिनमंदिर जाना चाहिए। परमात्मा के समीप कभी भी खाली हाथ नहीं जाना चाहिए।

''देरासर में सब तैयार मिलता है न? साथ में ले जाने की क्या जरूरत है'', यह विचार सुखी श्रावक के लिए उचित नहीं है। पू. हरिभद्रसूरि म. ने कहा है कि,

'प्रवरैः साधनैः जायते प्रवरो भावःफ

अर्थात् – साधन जितना श्रेष्ठ होगा, भाव भी उतना ही श्रेष्ठ आयेगा। स्वद्रव्य पूजा का महत्त्व अधिक है। एक दिन चढ़ावा लेकर व्यक्ति पूजा करता है और दूसरे दिन कोई अन्य व्यक्ति के चढ़ावे से प्रथम व्यक्ति पूजा करता है, उसमें यह स्पष्ट है पहले दिन जो भाव था, वह दूसरे दिन में नहीं आयेगा। दूसरों की सामग्री से पूजा करने में भावों में अतिशयता नहीं आती है। कुमारपाल महाराजा के पूर्वभव में जयताक ने गरीबी में भी अपने स्वद्रव्य से 18 फूल से पूजा की उस समय इतना श्रेष्ठ भाव आया कि जो निर्मल पुण्य का बंध हुआ उससे वह दूसरे भव में 18 देश का मालिक कुमारपाल बन गया।

जिनपूजा में प्रमुख 7 प्रकार की शुद्धि का पालन करना चाहिए।

1. अंगशुद्धि–

तालाब में, सरोवर में, होज में गिरकर के या नल के नीचे बैठकर स्नान करने से अनेक जीवों की विराधना होती है। छाना हुआ पानी बालटी में लेकर स्नान करके अंगशुद्धि करनी चाहिए। हम इसी तन से परमात्मा की शुद्ध प्रतिमा को स्पर्श करते हैं, अतः तन की शुद्धि प्राथमिक है। प्रतिमा की शुद्धि हममे भी आ सके, ऐसे भावपूर्वक स्पर्श के लिए हमारी अंगशुद्धि आवश्यक है।

2. वस्त्र शुद्धि–

विशुद्धि वपुषः कृत्वा, यथा योग्यं जलादिभिः।
धौत वस्त्रे वसीत द्वे धूपधूपिते।।

यथा योग्य जल से शरीर की शुद्धि करने के बाद सुगंधित शुद्ध धूप से वासित कर कीमती, स्वच्छ एवं धुले हुए वस्त्र पहनना चाहिए। भगवान की पूजा के लिए वस्त्र स्वच्छ, सुन्दर शक्ति अनुसार कीमती, बिना सिले, बिना फटे, बिना भोजन टट्टी पेशाब किये हुए और बिना किसी के पहने हुए होने चाहिए। क्योंकि मलिन

आदि कपड़े होंगे तो मलिन विचार आएगें। उद्भट विकारी वेश होगा तो विकार पैदा करेगा, इसलिए उद्भट वेश कभी भी पहनना नहीं चाहिए और शक्य हो तो पूजा के वस्त्र रोज धोने चाहिए क्योंकि अपने पसीने आदि से गंदे हो, तो आशातना होती है।

प्रभु पूजा के लिए पुरुषों को 2 कपड़े (धोती और दुपट्टा) और स्त्रियों को कंचुकी सहित 3 वस्त्र पहनने चाहिए। जो पुरुष पायजामा, बनियान, अंडरवियर, पेंट/ट्राउजर/जींस आदि पहनकर पूजा करते हैं, औरतें और बड़ी लड़कियाँ उद्भट वेश पहनकर और सिर खुल्ला रखते हैं वो उचित नहीं है क्योंकि प्रभु के दरबार में हम अपने पापकर्मों को नाश करने के लिए व प्रभुजी के गुणों को प्राप्त करने के लिए जाते हैं। जिससे पापकर्मों का बंध हो तथा चित्त की चंचलता हो ऐसी वेश भूषा नहीं पहननी, क्योंकि मंदिर में वीतराग के दर्शन करने आये हुए को राग का निमित्त मिलता है और मर्यादा का भंग होता है, इसलिए मर्यादा सहित जाने में प्रभुजी के प्रति विनय भाव और पूज्य भाव प्रगट होता है।

3. मन शुद्धि –

'मनडुं किमही न बाजे हो कुंथु जिन ! मनडुं किमहि न बाजे,'

'मन साध्युं तेणे सघलुं साध्युं, अेह बात नहीं खोटी।'

'चित्त प्रसन्ने रे पूजन फल कह्यु, पूजा अखंडित अेह, कपट रहित थई आतम अरपणा रे, आनंद घन–पद–रेह।।'

आनंदघनजी महाराज श्री कुंथुनाथ भगवान के स्तवन में कहते हैं कि 'हे कुंथु जिन ! जिसने मन को साध लिया है उसने सब कुछ साध लिया है यानि सब कुछ प्राप्त कर लिया है, ये बात गलत नहीं है और आदिनाथ भगवान के स्तवन में भी कहा है कि अगर मन की प्रसन्नता रहती है तो पूजा अखण्डित समझना क्योंकि प्रभु पूजा का मुख्य फल मन की प्रसन्नता ही कहा है। इसी तरह कपट के बिना सरल भाव से श्री जिनेश्वर भगवान को समर्पित हो जाओ तो यही आनंदघन यानि शिवपद पाने का मार्ग है। इसलिए मन में दुष्ट विचार नहीं लाकर मन को स्थिर रखकर भगवान के दर्शन–पूजन में लीन रखना चाहिए।

4. भूमि शुद्धि–

नया मंदिर बनवाने के पहले जमीन के नीचे से हड्डी, कलेवर आदि हो तो बाहर निकालना चाहिए, जिससे उस भूमि पर अशुद्धि रहने नहीं पाए और चालू

मंदिर भी एक दम साफ, स्वच्छ, आकर्षित और सुगंधित होना चाहिए जिससे आनन्द आएगा और अपनी पूजा भी सफल होगी।

5. पूजा उपकरण शुद्धि–

अच्छे साधन से क्रिया होने पर भावों में उत्तरोत्तर शुद्धि होती है। भोजन, कागज में , एल्यूमिनियम, पीतल, स्टील, चांदी या सोना की थाली हो, तो आनंद में काफी अंतर रहेगा ही। जो आनंद सोने की थाली में हो वह कागज में कहाँ से आयेगा ? वैसे ही उपकरण की श्रेष्ठता में भावों की वृद्धि होती है।

6. द्रव्य शुद्धि–

प्रभु की सेवा में न्याय से उपार्जित किया हुआ द्रव्य होना चाहिए। क्योंकि शक्ति अनुसार थोड़ा भी न्याय का द्रव्य प्रभु भक्ति में लगेगा तो महान फल देने वाला होगा। अपने जीवन के लिए भी न्याय से युक्त धन ही उपार्जन करना चाहिए। मार्गानुसारी जीवन के 35 गुणों में प्रथम गुण न्याय सम्पन्न विभव बताया गया है।

7. विधि शुद्धि–

स्त्रियां अपने घर में रसोई बनाते समय बराबर विधि का ख्याल रखती है तो कितनी सुन्दर व स्वादिष्ट रसोई बनाती है, उसी प्रकार प्रभु की पूजा भी विधिपूर्वक की जायेगी तो अच्छा आनन्द आएगा और उत्तम फल मिलेगा।

प्रतिमा अभिषेक का माहात्म्य

अभिषेक जन्म कल्याणक का सूचक है जिसके मूल में प्रभुजी की जन्म अवस्था का चिंतन करना चाहिए ।

प्रक्षाल करते समय बोलने का दोहा–

मेरु शिखर न्हवरावे हो सुरपति, मेरू शिखर नवरावे।
जन्म काल जिनवरजी को जाणी, पंच रूप करी आवे।
। सुरपति.।।

रत्न प्रमुख अड़ जातिना कलशा, औषधि चूरण मिलावे।
क्षीर समुद्र तीर्थोदक आणी, स्नात्र करी गुण गावे।
। सुरपति.।।

एणिपरे जिन प्रतिमा को न्हवण करी बोधि बीज मानुं वावे।
अनुक्रमे गुण रत्नाकर फरसी जिन उत्तम पद पावे।
। सुरपति.।।

भावार्थ – जब अरिहंत परमात्मा का जन्म होता है तब इन्द्र का सिंहासन चलायमान होता है। सौधर्मेन्द्र अवधि ज्ञान से प्रभुजी का जन्म जानकर पांच रूप करके प्रभुजी को मेरु शिखर पर ले जाता है। वहाँ रत्न आदि आठ जाति के बड़े-बड़े कलशों में तरह-तरह के सुगंधित औषधि चूर्ण मिलाकर क्षीर समुद्र से जल ला करके भगवान का प्रक्षाल कराके प्रभुजी के गुण गाता है। इसी तरह भव्य मनुष्य भी जिनेश्वर भगवान की प्रतिमाजी को स्नान करवाके समकित की प्राप्ति करते हैं, अनुक्रम से गुण रत्नाकर (चारित्र) पाकर उत्तम पद (शिव-पद) को प्राप्त करते हैं।

अष्ट प्रकारी पूजा की विधि एवं प्रभाव

अष्टप्रकारी पूजा करते वक्त कैसे भाव लाएंगे ?

1) जल पूजा, 2) चंदन पूजा, 3) पुष्पपूजा, 4) धूपपूजा, 5) दीपपूजा, 6) अक्षतपूजा, 7) नैवेद्यपूज, 8. फलपूजा।

1. जलपूजा

जलपूजा करते समय बोलने का दोहा।

जलपूजा जुगते करो, मेल अनादि विनाश।
जलपूजा फल मुज होजो, मांगु एम प्रभु पास।।

अपने अनादि काल के संचित पाप कर्म रूपी मैल का नाश करने के लिए जलपूजा विधि से करो, जिससे जलपूजा का फल प्राप्त हो, ऐसी प्रभुजी के पास याचना करो। जलपूजा की विशेषता यह है कि स्नान तो प्रभुजी को करवाते हैं और अपने अनादि काल का पाप कर्म रूपी मैल साफ हो जाता है।

ज्ञान कलश भरी आत्मा समता रस भरपूर।
श्री जिनने न्हवरावता कर्म थाय चकचूर।।

हे आत्मा! तू ज्ञान रूपी कलश को समता रूपी रस से पूरा भरके श्री जिनेश्वर भगवान का अभिषेक कर जिससे पाप कर्म नाश हो जावे।

ॐ ह्रीं श्री परमपुरुषाय परमेश्वराय जन्म जरा मृत्यु निवारणाय श्रीमते जिनेन्द्राय जलं यजामहे स्वाहा। (चंदन, पुष्प आदि की पूजा हो तो 'चंदनं, पुष्पं यजामहे स्वाहा' बोलना।)

सावधानियाँ – प्रक्षाल व निर्माल्य पुष्प आदि सूखी जगह पर जहाँ जीवों की उत्पत्ति न हो और व्यक्तियों के पाँव भी नहीं आये उसी जगह पर डालना चाहिए। पुष्पों को कभी प्रक्षाल के जल में नहीं डालें, डालने से जीवों की विराधना होती है। प्रक्षाल करने के बाद पाटलूंछना लेकर पबासन साफ करना और नीचे की जमीन भी साफ करना फिर हाथ पानी से साफ करके स्वच्छ मुलायम तीन अंगलूंछना लेकर प्रभु को अंगलूंछना करना। खास ख्याल रखना कि अंगलूंछना, पाट लूंछना व जमीन साफ करने का कपड़ा अलग-अलग थाली में रखना और हमेशा अलग अलग साफ करना और जमीन को स्पर्श भी नहीं करना। अंगलूंछना होने के बाद

चंदन, पुष्प आदि की पूजा करनी चाहिए और स्नात्र पूजा करते समय पंचतीर्थी व सिद्धचक्रजी के गट्टाजी को सिंहासन पर विराजमान करना व उठाना हो तो बहुमानपूर्वक दोनों हाथों से उठाना चाहिए। अभिषेक करते समय भी दोनों हाथों से कलश पकड़ना और जल धारा भी प्रभुजी के मस्तक के ऊपर करना। घड़ा, बाल्टी, कुंडी, कलश आदि लोहे व स्टील के नहीं होने चाहिए।

पहले अंगलूंछने से प्रभुजी के अंगों के ऊपर का पानी साफ करना।

दूसरे अंगलूंछने से प्रभुजी के अंगों के ऊपर तथा छिद्र आदि में रहा हुआ पानी, विशेष साफ करना।

तीसरे अंगलूंछने से प्रभुजी के अंगों के ऊपर कहीं पर भी रहा हुआ पानी साफ करना।

2. चंदन पूजा

शीतल गुण जेह मां रह्यो, शीतल प्रभु मुख रंग।
आत्म शीतल करवा भणी, पूजो अरिहा अंग।।

शीतलता का गुण जिनमें रहा है ऐसे प्रभुजी के मुख का रंग भी शीतलता देने वाला है। अपनी आत्मा आधि-व्याधि-उपाधि (क्रोध, मान, माया, लोभ) कषायों के तापों से तपी हुई है, इसलिए समता रूपी शीतलता, प्राप्त करने के लिए प्रभुजी के नव अंगों की पूजा करो। जैसे चंदन में शीतलता का स्वभाव है वैसे प्रभुजी की वाणी भी शीतल है जिससे प्रभुजी की चंदनादि सुगंधित पदार्थों के विलेपन से पूजा करके हमारी आत्मा शीतल बन जाये और वाणी भी शीतल बन जाये ऐसी भावना रखनी।

आतम गुण वासन भणी, चंदन पूजा सार।
जेम अपछर करे तेम, करीये नरनार।।

हे नरनारियों ! अपनी आत्मा को गुणों से सुवासित करने के लिए चंदन पूजा उत्तम है यह पूजा इन्द्र और अप्सराएँ भी अत्यंत उल्लास से करते हैं। यह बात परम पूज्य उपाध्यायजी वीरविजयजी महाराजजी ने अष्ट प्रकारी पूजा में कही है।

वर्तमान काल में चंदन पूजा के अन्तर्गत परमात्मा की नवांगी पूजा का विधान है।

नौ अंग की पूजा की भावना और भावार्थ

1. अंगूठे पर–

जल भरी संपुट पत्रमां, युगलिक नर पूजंत।
ऋषभ चरण अंगूठडे, दायक भवजल अंत।।1।।

युगलिक मनुष्यों ने कमल के पत्ते का संपुट (पत्र) बनाके उसमें जल भर कर ऋषभ प्रभुजी के चरण के अंगूठों पर जल पूजा की, क्योंकि वह भव जल रूपी संसार समुद्र से तिरानेवाला है। हमें भी संसार समुद्र को पार करना है। इसलिए सबसे पहले विनीत होकर भगवान के अंगूठे पर तिलक करना है।

श्री वीर परमात्मा ने जन्मते ही इन्द्र की शंका को दूर करने के लिए अंगूठे से मेरूपर्वत को हिलाया, ऐसी ताकत होने पर भी संसार की सम्पूर्ण ऋद्धि को त्याग करके चारित्र ग्रहण कर साढ़े बारह वर्ष तक घोर उपसर्ग सहन किया और घोर तपस्याएँ भी की और चंडकोशिक सर्प ने पैर के अंगूठे पर डंस दिया तो भी उनके रोम राजि में अंश मात्र भी रोष (क्रोध) प्रकट नहीं हुआ।

शक्तौ क्षमा– विशेषता यह है कि जो शक्तिमान होने पर भी क्षमा धारण करता है वह पुरूष ही वास्तव में पूज्य हैं इसलिए मैं भी ऐसे महापुरुषों के गुण ग्रहण कर उनके चरण के अंगूठों की पूजा कर क्षमा धारण कर सकूं, ऐसी भावना रखनी चाहिए।

2. घुटने पर –

जानुबले काउस्सग रह्या, विचर्या देश विदेश।
खड़ा खड़ा केवल लह्युं, पूजो जानु नरेश ।।2।।

प्रभुजी ने (मोक्ष अवश्य होने वाला है ऐसा अवधि ज्ञान से जानने पर भी) चारित्र ग्रहण कर घोर तपस्याएं, उपसर्ग परिषह सहनकर देश विदेश में विचरे और घुटने के बल से खड़े-खड़े काउस्सग्ग ध्यान में रहकर केवलज्ञान प्राप्त किया। कैसा अद्भुत उनका आत्मीय मानसिक एवं शारीरिक बल था! इसलिए हमें भी प्रभुजी के घुटनों की पूजा करके उपसर्ग व परिषह सहन करने के लिए प्रभुजी के गुणों को प्राप्त करना है।

3. हाथों पर–

लोकान्तिक वचने करी, वरस्याँ वरसी दान।
करकांडे प्रभु पूजना, पूजो भवि बहुमान।।3।।

भगवान खुद दीक्षा का अवसर जानते हैं फिर भी लोकांतिक देवों का आचार है कि वे प्रभुजी की दीक्षा का अवसर जानकर प्रभुजी को प्रार्थना करते हैं कि आप भव्य आत्माओं के हित के लिए संसार का त्याग कर दीक्षा लेने का निश्चय करो। ऐसे भगवान लोकांतिक देवों के वचन से 1 वर्ष तक प्रतिदिन 1 करोड़, 8 लाख के हिसाब से 388 करोड़ 80 लाख सौनेया का दान अपने हाथों से देते हैं। ज्यों-ज्यों वे दान देते हैं त्यो-त्यों कुबेर उनका भंडार भरते हैं। इसलिए हमें भी प्रभुजी के करकांडों (हाथों) का बहुमान पूर्वक पूजा कर लक्ष्मी की मूर्च्छा उतारने के लिए दान देने का अभ्यास व गुण प्राप्त कर संपूर्ण संपत्ति व सत्ता का त्याग कर प्रभुजी का बताया मार्ग चारित्र ग्रहण कर अपना कार्य साधना है। अपने हाथों से तीर्थ की (शासन) स्थापना करने के लिए गणधरों के ऊपर वासक्षेप डालते हैं। प्रभु के हाथ तो जीवों के कल्याण के लिए ही उठते हैं। इस कारण हम प्रभु के हस्तकमल की पूजा करते हैं।

4. स्कंध पर-

मान गयुं दोय अंश थी, देखी वीर्य अनंत।
भुजा बले भवजल तर्या, पूजो खंध महंत।।4।।

हे प्रभो! आपकी अनंत शक्ति देख करके मानरूपी कषाय घबराकर दोनों स्कंधों (कंधों) से भाग गया है। आपने अपनी भुजाओं के बल से संसार सागर को पार कर लिया है, उसी तरह हमें भी आपके स्कंधों की पूजा कर ऐसी शक्ति प्राप्त करनी है, ऐसी भावना रखनी चाहिए।

5. शिखा पर-

सिद्धशिला गुण उजली, लोकान्ते भगवंत।
वसिया तेणे कारण भवि, शिर शिखा पूजंत।।5।।

लोक के अंत भाग में स्फटिक जैसी स्वच्छ यानि उज्ज्वल गुणवाली सिद्धशिला पर आप विराजमान हो जिस कारण आपकी सिर शिखा सिद्धशिला का स्मरण कराने वाली होने से अत्यंत पवित्र है, इसलिए पूजनीय है। हमें भी आपकी सिर शिखा पूजने से आपके पास सिद्धशिला पर वास मिले ऐसी भावना रखनी चाहिए।

6. ललाट पर-

तीर्थंकर पद पुण्य थी, त्रिभुवन जन सेवंत।

त्रिभुवन तिलक समा प्रभु, भालतिलक जयवंत।।6।।

हे प्रभो ! आपका मस्तक अनन्त ज्ञान का केन्द्र है। आपने तीर्थंकर नाम कर्म पुण्य उपार्जन किया जिससे तीन भुवन (लोक) के लोग आपकी सेवा करते हैं, वास्तव में आप त्रिभुवन के तिलक समान हैं, इसलिए मैं भी आपके भाल प्रदेश की तिलक द्वारा पूजा करता हूँ ताकि मैं भी आपकी पूजा से आपके गुण प्राप्त करुं।

7. कंठ पर–

सोल प्रहर प्रभु देशना, कंठे विवर वर्तुल।
मधुर ध्वनि सुरनर सुने, तिणे गले तिलक अमूल।।7।।

प्रभु महावीर ने निर्वाण होने से पहले 16 प्रहर (2 रात-दिन) अर्थात् 48 घंटे तक देशना दी थी यह वाणी कंठ रूप गोल आकृति वाले छिद्र से निकली थी। मधुर ध्वनि से निकली हुई यह देशना देव, पशु और मनुष्य हर्ष से सुनते हैं और सुनते-सुनते न तो भूख लगती है न निद्रा आती है, और सभी अपनी-अपनी भाषा में शंका का निवारण करते हुए सुनते थे। वैसे ऋषभ प्रभु ने 1 लाख पूर्व (1 हजार वर्ष अल्प) तक वाणी की वर्षा की, प्रभु के कंठ से निकली वाणी ही आज हमारा उद्धार कर रही है। अहो ! प्रभुजी का कितना उपकार? मैं भी प्रभुजी के कंठ पर पूजा करके ऐसी उपकार बुद्धि एवं शुद्ध-मधुर वाणी प्राप्त करूं।

8. हृदय पर–

हृदयकमल उपशम बले, बाल्या राग ने रोष।
हिम दहे वनखंड ने, हृदय तिलक संतोष ।।8।।

हे प्रभो ! आपने अपने हृदय कमल के उपशम के बल से राग द्वेष जला दिये हैं। आपके हृदय में तो बस 'सवि जीव करूँ शासनरसी' का शुद्ध भाव है, जीव मात्र के प्रति करुणा है। जैसे हिम वन खंड को जला देते हैं वैसे ही हमें भी आपके हृदय कमल की पूजा करके हमारे हृदय कमल में उपशम का रस प्राप्त करना है व राग-द्वेष को जलाना है ।

9. नाभि पर–

रत्नत्रयी गुण ऊजली, सकल सुगुण विश्राम।
नाभिकमल नी पूजना, करता अविचल धाम।।9।।

हे प्रभो ! सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान, सम्यग् चारित्र ये तीनों (रत्नत्रयी) गुणों से उज्ज्वल और सद्गुणों का विश्रामस्थान है इस बात की याद दिलाने वाली आपके नाभिकमल में से निकलती हुई तीन मुख्य रेखाएँ हैं, जिससे आपका नाभिकमल पूज्य है, मैं भी आपके नाभिकमल की पूजा करके अविचल स्थान (मोक्ष) को प्राप्त करूं।

दूसरी तरह से– शरीर के मध्य भाग में नाभि है उसी तरह आत्मा के मध्य भाग में आठ रूचक प्रदेश हैं वे बिल्कुल निर्मल है। आपने तो सभी आत्म प्रदेशों को निर्मल करके अनंत दर्शन, ज्ञान, चारित्र को प्रगट किया है उसी तरह हमें भी वह आपकी नाभिकमल की पूजा करके प्राप्त करना है।

उपसंहार–

उपदेशक नवतत्त्व ना तिणे नव अंग जिणंद।
पूजो बहुविध रागशुं, कहे शुभवीर मुणिंद।।10।।

प्रभु नवतत्त्व के उपदेशक होने के कारण नवअंगों की पूजा करनी चाहिए। इस हेतु राग पूर्वक विविध प्रकार से प्रभुजी की पूजा करो ऐसा पूज्य उपाध्यायजी वीर विजयजी महाराज ने कहा है। नव अंग में 13 स्थान–2 अंगूठा, 2 घुटने, 2 हाथ (करकांड), 2 कंधे, 1 शिखा, 1 कपाल, 1 कंठ, 1 हृदय और 1 नाभि (पहले दाहिना अंग पीछे बांया अंग) प्रभु की पूजा का यह क्रम है, उस समय प्रत्येक अंग पर सोचना कि प्रभुजी के चरणों ने क्या किया और मेरे चरण क्या कर रहे हैं इत्यादि!

3. पुष्प पूजा

सुरभि अखंड कुसुम ग्रही, पूजो गत संताप।
सुम जंतु भव्यज परे, करीये समकित छाप।।

सुगंधित, अखंड पुष्पों को ग्रहण करके प्रभुजी की पूजा करने से आधि, व्याधि और उपाधि रूपी संताप मिट जाते है और पुष्पों के जीव भी भव्य जीवों की मोहर प्राप्त करते हैं। हे प्रभो ! आपकी पुष्पों की पूजा से हमें सुमनसः (अच्छा मन) व पुष्पों की तरह हमें भी समकित की मोहर छाप प्राप्त हो। हम भी पुष्पों की तरह सुकृत एवं सद्गुणों से सुवासित बनें।

त्रीजी सुमन तणी सुमनस करण स्वभाव।
भाव सुगंध करण भणी द्रव्य कुसुम प्रस्ताव।।

ये तीसरी पूजा अपने मन को सुन्दर बनाने के स्वभाव वाली है, भाव सुगंध प्राप्त करने के लिए प्रभुजी की कुसुम पूजा का प्रस्ताव है।

जैसे लौकिक व्यवहार में भी पुष्पों की माला पूज्यों को पहनायी जाती है। तो लोकोत्तर परमोपकारी परमात्मा की उत्तम स्वच्छ सुगंधित पुष्पों से अवश्य पूजा करनी चाहिए। स्मरण रहे कि पूजा परमात्मा की करनी ही चाहिए क्योंकि परमात्मा को तो नहीं किन्तु हमें उसकी आवश्यकता है। पुष्पों की सुगंध से सुगंधमय वातावरण से अपनी आत्मा भी सुगंधमय हो जाती है। कुमारपाल राजा ने अपने पूर्व भव में आशंसा रहित अपने 5 कोड़ी द्रव्य के 18 पुष्प लाकर प्रभुजी को चढ़ाये थे तो कुमारपाल के भव में 18 देश का राजा बनकर उन्होंने अपने देश में हिंसा बंद करवाकर अहिंसा का झंडा फहराया और 5 हजार से अधिक जिन मंदिर और 7 हजार से अधिक जिन बिम्ब भरवा कर अपनी आत्मा का कल्याण कर आने वाली चौबीसी में पद्मनाभ प्रभुजी के गणधर बनकर मोक्ष में जाने का पुण्य उपार्जन किया तो हमें भी ऐसी पुष्प पूजा कर अपना कल्याण करना है। नागकेतु ने भी पुष्प पूजा करते हुए केवलज्ञान पाया था। हर पूजा से भावों में अभिवृद्धि होती है, यह निःशक सत्य है।

प्रश्न– क्या भगवान को पुष्प चढ़ाने से विराधना होती है ?

उत्तर– पुष्प भगवान को चढ़ाने से विराधना नहीं बल्कि आराधना तथा रक्षा होती है। अगर ये पुष्प हम भगवान के चरणों में नहीं चढ़ावेगें तो ये पुष्प कामी स्त्री, पुरुष सूंघेंगे, अपनी शय्या पर बिछायेंगे, अपने गले का हार बनाकर पहनेंगे, और स्त्रियाँ अपने बालों की वेणी में डालेगी या फिर इत्र की भट्टी में डालेंगे, गुलकंद बनाएगी तो विराधना अवश्य होगी। यदि ये पुष्प भगवान की गोद में रहेंगे तो अवश्य उन जीवों की रक्षा होगी और पुष्प के जीवों को भव्यता की छाप लगेगी।

सावधानियाँ – (1) पुष्पों को कभी पानी में धोना नहीं चाहिए, क्योंकि धोने से पुष्पों में रहे हुए सूक्ष्म जीवों की विराधना होती है। (2) पुष्पों की पत्तियाँ (पाँखड़ी) अलग करनी नहीं और तोड़ना भी नहीं है और डंठल भी अलग करना नहीं, अगर माला बनाओ तब भी सुई का उपयोग नहीं करते हुए डंठल को धागे से बांधना। (3) हमेशा पुष्प ताजे, सुन्दर सुगंधमय होने चाहिए। शक्य हो तो अपने हाथों से ही सावधानी से पुष्प ग्रहण करना चाहिए। (4) कई लोग पुष्पों की डंठल तोड़कर व पांखड़ी अलग-अलग करके प्रभुजी की अंग रचना करते हैं यह उचित नहीं है।

4. धूप पूजा

ध्यान घटा प्रगटाविये, वाम नयन जिन धूप।
मिच्छित्त दुर्गन्ध दूरे टले, प्रगटे आत्म स्वरूप।।

धूप का स्वभाव उपर जाने का है तो हमें भी ऊर्ध्वगति यानि सिद्धशिला को प्राप्त करनी है। इसलिए हे प्रभो ! आपकी धूप पूजा करके मेरे आत्मा में रही हुई मिथ्यात्व रूपी दुर्गन्ध दूर करके शुद्ध आत्मा का स्वरूप प्राप्त करना है।

कर्म समिध दाहन भणी, ध्यानानल सलगाय।
द्रव्य धूप करी आत्मा सहज सुगंधित थाय।।

भगवान् को द्रव्य धूप पूजा करने से आत्मा सहज में सुगंधित होती है, क्योंकि कर्म रूपी लकड़ों को जलाने के लिए ध्यान रूपी अग्नि जलाई जाती है, तब ध्यान रूपी अग्नि जलाने के लिए द्रव्य धूप-पूजा करना जरूरी है।

धूप खुद अग्नि में भस्म होकर उसकी सुगंध चारों तरफ फैलाता है, उसी तरह हे प्रभो ! आपने भी दीक्षा लेकर घोर उपसर्ग, परिषह सहनकर और घोर तपस्याएं कर अपने कर्म रूपी पापों को जलाकर अपने आत्मा के गुणों की सुगंध जगत में फैलायी। धूप हमेशा शुद्ध चंदन का और कीमती होना चाहिए। धूप गभारे के बाहर व भगवान की बाईं तरफ रखना चाहिए। धूप असली व लकड़े की सली बिना का होना चाहिए, जिससे वातावरण सुगंधमय होता है।

5. दीपक पूजा

द्रव्य दीप सुविवेक थी, करता दुःख होय फोक।
भाव दीपक प्रकट हुवे, भासित लोकालोक।।

जग दीपक प्रगटाववा, तप तपता रही राण।
तेणे दीपक ना पुजन, करता केवल ज्ञान।।

पंचमी गति वरवा भणी, पंचमी पूजा सार।
केवल रत्न गवेषणा, धरिये दीपक माल।।

केवलज्ञान कल्याणक की आराधना करने रूप दीपक पूजा की जाती है क्योंकि दीपक अंधकार का नाश करता है और प्रकाश को फैलाता है। दीपक ज्ञान और प्रकाश का प्रतीक है। हम भी तिल तिल तपस्या से जलकर स्वयं एवं जगत् को ज्ञान से प्रकाशित करें इसलिए प्रभुजी की विवेक पूर्वक शुद्ध देशी घी के दीपक

से पूजा करनी चाहिए। घी से प्रज्वलित दीपक करने से सकारात्मक दैवीय शक्तियों का जिनालय में वास होता है, ऐसा वृद्ध कथन है।

6. अक्षत पूजा

शुद्ध अखंड अक्षत ग्रही, नदंवार्त विशाल ।

पूरी प्रभु सन्मुख रहो टाली सकल जंजाल ।।

अक्षत पूजा करता थका सफल करुँ अवतार ।
फल मांगू प्रभु आगले तार तार मुज तार।।
सांसारिक फल मांगीने रडवडियो बहु संसार
अष्ट कर्म निवारवा मांगु मोक्ष फल सार
चिंहू गति भ्रंमण संसार मां जन्म मरण जंजाल
पंचमी गति विन जीवने सुख नहीं तिहुंकाल

चावल बोने से उगते नहीं है जिससे हमें भी फिर से जन्म न लेना पड़े, अतः चावल का स्वस्तिक करने का है।

अक्षत पूजा करते हुए अपने अवतार (जन्म) को सफल बनाऊँ, अक्षय पद पाने के लिए और चार गति रूप संसार को नाश करन के लिए स्वस्तिक बनाता हूँ। इसलिए शुद्ध अखंड अक्षत (चावल) ग्रहण करके प्रभुजी के आगे विशाल नंदावर्त बनाकर संपूर्ण संसार की जंजाल को तोड़ने के लिए और अष्ट कर्म को नाश करके पंचमी गति को प्राप्त करने के लिए आपके सामने स्वस्तिक बनाकर प्रार्थना करता हूँ कि हे प्रभो! मुझे इस भव सागर से पार करो। श्रेणिक राजा तो प्रतिदिन सोने के चावल बनवाकर स्वस्तिक करते थे।

तीन ढगली और सिद्धशिला करते समय–

दर्शन ज्ञान चारित्रना, आराधनाथी सार।
सिद्ध शिला नी उपरे, हो मुझ वास स्वीकार।।

दर्शन, ज्ञान, चारित्र की आराधना करने के लिए तीन ढगली करके उपर चन्द्र के आकार रूपी सिद्धशिला बनाई जाती है। जिससे हमारा सिद्धशिला के ऊपर वास हो, ऐसी भावना की अभिवृद्धि हो।

7. नैवेद्य पूजा

अणाहारी पद में कर्या, विग्गह गइ अनंत।
दूर करी ते दीजिये, अणाहारी शिव संत।।
निर्वेदी आगल ठवो, शुचि नैवेद्य नो थाल।
विविध जाति पकवान्नसु, भरी अष्टपद थाल।।
आहारे निद्रा वधे घणी, निद्रा दुःख भंडार।
नैवेद्य धरी प्रभु आगले, वरीये पद अणाहार।।

हे प्रभो! मैंने विग्रह गति में आहार बिना का अणाहारी पद अनंत बार किया है, लेकिन अभी तक मेरी आहार की लोलुपता नहीं मिटी है। आहार से प्रमाद बढ़ता है। इसलिए मेरे भव-दुःख की परंपरा को मिटाने के लिए और आहार संज्ञा को तोड़ने के लिए आपके आगे स्वादिष्ट पकवान (मिठाई) आदि धरता हूँ जिससे मेरे भव भ्रमण जल्दी मिट जावे और अणाहारी पद प्राप्त करूं। ऐसी भावना करनी चाहिए। इस आहार संज्ञा ने तो हमको अनादिकाल से इस संसार (जन्म-मरण) के खड्डे में डाल दिया है और आहार संज्ञा से तो भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञाए पीछे लगी हुई है, हमें प्रभुजी के आगे नैवेद्य (मिठाई) रखकर और साथ-साथ साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका, अतिथि आदि की रोज शक्ति अनुसार भक्ति करनी चाहिए जिससे अवश्य हमारी संज्ञा घटेगी। इसमें किसी बात का संदेह नहीं है।

8. फल पूजा

इन्द्रादिक पूजा भणी, फल लावे धरी राग।
पुरुषोत्तम पूजी करी, मांगे शिवफल त्याग।।
अष्टमी गति वरवा भणी, आठवीं पूजा सार।
तरू संचित फल पामीए, फल थी फल निरधार।।

हे प्रभो! आपको फल पूजा करते हुए मैं अपनी आत्मा को सफल बनाऊँ और इसका फल मोक्ष मांगता हूँ, मुझे इस संसार से पार उतारो। आज तक सांसारिक (भौतिक) फल मांगकर संसार में भटका हूँ अब मैं अष्ट कर्म निवारण हेतु मोक्ष जिसका फल है वह चारित्र मांगता हूँ। चारगति में भटकने में जन्म, मरण

की जंजाल है, पंचमी गति (मोक्ष) पाये बिना तीनों काल में सुख नहीं मिल सकता। इन्द्र आदि भी पूजा के लिये फल आदि राग से लाते हैं व पुरुषोत्तम (प्रभु) को पूजकर शिवफल देने वाले त्याग यानि चारित्र मांगते हैं। अष्टमी गति यानि मोक्ष पाने हेतु यह आठवीं पूजा है 'फल' से 'फल' मिलता है। (पुरुष, स्त्री, देव, देवी, तिर्यंच (पुरुष), तिर्यंच (स्त्री) एवं नरक ये सात गति है व आठवी गति मोक्ष है।)

जिनपूजा तारणहारी का प्रभाव

A. जल पूजा का प्रभाव–

वसंतपुर नगर में 'हीर' नाम का लक्कड़हारा रहता था। जंगल में से लकड़ियाँ लाकर वह शहर में बेचता था और अपना जीवन-निर्वाह करता था।

एक बार 'हीर' जंगल में लकड़ियाँ काट रहा था, तभी उसकी नजर एक खड्डे की ओर गई। उस खड्डे में उसे चमकता हुआ पाषाण दिखाई दिया। नजदीक आने पर पता चला कि यह तो जिनेश्वर भगवंत की प्रतिमा है। उसने उस मूर्ति को बाहर निकाला और एक छोटी सी झोपड़ी बनाकर प्रतिमा को वहाँ स्थापित कर दिया। प्रभु पूजा की उसे विशेष जानकारी तो नहीं थी, परंतु प्रभु के प्रति उसके दिल में अपूर्व भक्ति भाव अवश्य था। वह नदी का स्वच्छ जल लाकर प्रतिदिन प्रभुजी की अभिषेक पूजा करने लगा।

एक दिन उसकी मृत्यु हुई। वह मरकर वसंतपुर नगर के महाराजा चंद्र की महारानी पद्मावती की कुक्षी में पुत्र रत्न के रूप में पैदा हुआ। राजकुमार का नाम 'मदनकुमार' रखा गया।

राजकुमार धीरे-धीरे बड़ा होने लगा। यौवन के प्रांगण में प्रवेश करने के साथ ही उसे घुड़सवारी का शौक लगा। एक बार घोड़े पर सवार होकर वह नगर के बाहर गया। अचानक उसकी नजर उस झोपड़ी पर गई। झोपडी को देख उसके मन में कुछ आकर्षण पैदा हुआ।

घोड़े से नीचे उतरकर वह झोपड़ी में गया, जिनेश्वर भगवंत की प्रतिमा देखते ही उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। उसे अपना पूर्व भव प्रत्यक्ष दिखाई देने लगा। उसे लगा कि प्रभु की की गई भक्ति के प्रभाव से ही मैं लक्कड़हारे से राजकुमार बना हूँ। वह महल में आया। उसने अपने माता-पिता को सब बताया। उसने भव्य जिनमंदिर बनाने की भावना व्यक्त की। माता-पिता ने सहर्ष सम्मति प्रदान की। कुछ ही वर्षों में भव्यातिभव्य जिनमंदिर तैयार हो गया।

राजकुमार मदनकुमार प्रभुजी की सुन्दर भक्ति करने लगा। प्रभु भक्ति के प्रभाव से वह राजकुमार मरकर महर्द्धिक देव बना।

अपने देव भव के दीर्घ आयुष्य को पूर्ण कर वह देव महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य के रूप में पैदा होगा। अंत में चारित्र धर्म का स्वीकार कर निरतिचार चारित्र का

पालन कर केवलज्ञान प्राप्त कर शाश्वत अजरामर मोक्षसुख प्राप्त करेगा। यह शास्त्रकथन है।

यह है प्रभुजी की जल-पूजा का प्रत्यक्ष प्रभाव। एक सामान्य मानव भी प्रभुजी की जल पूजा के प्रभाव से महर्द्धिक देव बन गया। भविष्य में यावत् शाश्वत सुख का भोक्ता बन जाएगा।

B. चंदन पूजा का प्रभाव-

श्रीपुर नगर में जितशत्रु राजा राज्य करता था। उस राजा की धारिणी नाम की महारानी थी।

उसी नगरी में धनसार नाम का एक श्रेष्ठी रहता था। सेठ के पास असीम संपत्ति थी। सेठ के हृदय में दया की भावना थी। वह दीन-दुःखी और गरीबों का बेली था। कोई भी याचक उसके द्वार से खाली हाथ नहीं लौटता था। सेठ की कीर्ति नगर में चारों ओर फैली हुई थी। सैकड़ों लोग सेठ के आसपास घूमते रहते थे।

एक दिन उनका भाग्य पलटा सेठ के भवन में से लक्ष्मीदेवी ने विदाई ली। व्यापार-व्यवसाय में भयंकर नुकसान होने लगा। लेनदारों की कतारें लगने लगी और सेठ की स्थिति अत्यंत दयनीय हो गई।

एक शुभ दिन पू. श्री ज्ञानसूरिजी महाराज पृथ्वी तल को पावन करते हुए श्रीपुर नगर पधारे। नगरजनों ने पूज्य आचार्य भगवंत का भावभीना हार्दिक स्वागत किया। स्वागत के बाद पूज्य आचार्य भगवंत ने धर्मदेशना में प्रभु भक्ति का महत्त्व समझाया। प्रभु भक्ति से होने वाले पुण्यानुबंधी पुण्य का स्वरूप समझाया।

पूज्य आचार्य भगवंत के उपदेश को सुनकर अनेक पुण्यशालियों ने प्रभु भक्ति के विषय में अलग-अलग अभिग्रह धारण किए।

आचार्य भगवंत की प्रेरक वाणी धनसार के हृदय को भी छू गई। उसने भी प्रभुपूजा का अभिग्रह स्वीकार किया।

धनसार की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी, फिर भी वह हमेशा प्रभुजी की पूजा करता था, उसे प्रभुजी की चंदनपूजा में विशेष भावोल्लास रहता था। प्रभुजी की चंदनपूजा करते समय वह भावविभोर हो जाता था।

इस पूजा के प्रभाव से पुण्य का पुंज इकट्ठा होने लगा। उस पुण्य पुंज से पाप का ईंधन जलकर समाप्त हो गया। पुण्य के प्रभाव से गया हुआ धन प्राप्त होने लगा।

उसकी आर्थिक स्थिति में परिवर्तन होने लगा। स्वजन और कुटुम्बीजनों का प्रेम बढ़ने लगा। चारों ओर उसकी यश पताका फैलने लगी। देखते ही देखते धनसार की आर्थिक व पारिवारिक स्थिति में आमूलचूल परिवर्तन आ गया। सम्पत्ति बढ़ी परंतु उसमे अभिमान पैदा नहीं हुआ। दान, दया और परोपकार की प्रवृत्ति बढ़ने लगी।

लोगों में भी बात फैलने लगी कि धनसार सेठ की प्रभुभक्ति प्रत्यक्ष फली।

चंदन पूजा में आए भावोल्लास के प्रभाव से धनसार सेठ मरकर देवलोक में गये। देवलोक में अपने दीर्घ आयुष्य को पूर्ण कर महाविदेह क्षेत्र में जायेंगे। वहाँ दीक्षा अंगीकार कर निरतिचार चारित्र धर्म का पालन कर शाश्वत पद प्राप्त करेंगे। यह चंदन पूजा के शुभ रहस्य को आत्मसात् करने से ही संभव हो सका।

C. पुष्प पूजा का प्रभाव–

कलिकाल सर्वज्ञ पू. श्री हेमचंद्रसूरिजी म.सा. के नाम से भला कौन अपरिचित होगा? 18 देशों के अधिपति सम्राट कुमारपाल महाराजा को धर्मबोध देकर जिन्होंने 18 देशों में जीवदया का डंका बजवाया था। प्रभु भक्ति, गुरु भक्ति और साधर्मिक भक्ति के फलस्वरूप ये ही कुमारपाल महाराजा आगामी चौबीसी में सबसे पहले पद्मनाभ तीर्थंकर परमात्मा के 11वें गणधर बनकर मोक्ष में जायेंगे।

मात्र 3 भवों में उन्होंने अपनी आत्मा का निस्तार कर दिया, यह था पूर्व भव में की गई प्रभु की पुष्प–पूजा का पुण्य प्रभाव।

कुमारपाल महाराजा अपने पूर्व भव में मेवाड़ देश में जयताक नाम के पल्ली पति थे। लूटपाट करना यही उसका धंधा था।

एक बार जयताक ने धनदत्त नाम के सार्थवाह को बूरी तरह से लूटा। उस सार्थवाह ने जाकर मालव राजा को शिकायत की और सहायता करने के लिए प्रार्थना की।

मालवपति ने धनदत्त की सहायता के लिए सैन्य भेजा। उस सैन्य ने जयताक की पल्ली पर अचानक हमला किया। अचानक हमला होने से जयताक अपने प्राण बचाकर भाग गया।

उस समय अवसर देखकर कोपायमान हुए धनदत्त ने जयताक की गर्भवती पत्नी को मार डाला।

आगे चलकर जयताक को पू. आचार्य श्री यशोभद्रसूरिजी म. का योग हो गया। गुरु भगवंत के समागम से जयताक के जीवन में अद्भुत परिवर्तन आया। अब उसने चोरी-लूटपाट त्याग का भी नियम लिया।

एकशिला नगरी में ओढर श्रेष्ठी के वहाँ जयताक नौकरी करने लगा।

ओढर श्रेष्ठी परमात्मा का परम भक्त था। पर्युषण के दिन आए। सेठ पूजा की सामग्री लेकर पूजा के लिए जाने लगे।

उन्होंने जयताक को भी प्रभु पूजा के लिए कहा। जयताक पूजा के लिए तैयार हो गया। सेठ अपनी ओर से पूजा की सामग्री देने लगे तब जयताक ने कहा- 'सेठजी आपकी सामग्री से मैं पूजा करूं तो इसमें मुझे क्या लाभ होगा?' इतना कहकर उसने अपने पास रही 5 कोड़ी से 18 पुष्प खरीदे। उन पुष्पों से उसने प्रभु की अत्यंत ही बहुमानपूर्वक पुष्पपूजा की।

इस पुष्पपूजा से उसने महान पुण्य उपार्जित किया, जिसके फलस्वरूप वह 18 देश का अधिपति कुमारपाल महाराजा हुआ।

D. धूप पूजा का प्रभाव-

पोतनपुर नाम का नगर था। नगर के महाराजा का नाम था वज्रसिंह। राजा की दो महारानियाँ थी, एक का नाम कमलादेवी, दूसरी का नाम था विमलादेवी।

समय व्यतीत होने पर दोनों रानियों ने 1-1 पुत्ररत्न को जन्म दिया। एक का नाम रखा कमल और दूसरे का नाम विमल रखा गया।

राजा कामवासना में अत्यन्त ही आसक्त था । परिणाम स्वरूप उसका अधिकांश समय अंतःपुर में ही व्यतीत होता था। एक बार राजदरबार में किसी भविष्यवेत्ता का आगमन हुआ।

राजा के मन में अपने दोनों पुत्रों का भविष्य जानने की जिज्ञासा पैदा हुई।

राजा की जिज्ञासा देखकर भविष्यवेत्ता ने स्पष्ट कह दिया-'आपका पुत्र कमल पितृघातक और राज्य का विनाशक होगा।'

इस भविष्यवाणी को सुनकर राजा को बड़ा अफसोस हुआ। राजा ने सोचा, 'छुरी भले ही सोने की हो, परंतु उसे अपने पेट में नहीं डाली जाती है। कमल भले ही मेरा पुत्र हो, लेकिन वह मेरा और मेरे ही राज्य का नाश करनेवाला हो तो ऐसे

पुत्र को महल में रखने से क्या फायदा? ऐसे पितृ हत्यारे से तो अपने आपको बचाना जरूरी है।' इस प्रकार विचार कर राजा ने अपने पुत्र कमल को भयंकर जंगल में भेज दिया, ताकि वह स्वतः मर जाये।

आकाश मार्ग से उड़ते हुए भारंड पक्षी ने उस बालक को देखा। भक्ष्य समझकर उसे अपनी चोंच से उठा लिया, तभी सामने से एक दूसरा भारंड पक्षी आया। दोनों के बीच लड़ाई हुई। परिणामस्वरूप वह बालक जमीन पर रहे एक कुएँ में गिर पड़ा।

बालक के सद्भाग्य से उस कुएं में एक भाई पहले से गिरा था। वह बालक उसी पर गिरा अतः मौत से बच गया। योगानुयोग उसी दिन एक सार्थवाह पानी लेने के लिए उस कुएँ के पास आया। कुएँ में रहा भाई चिल्लाया। सार्थवाह को दया आई। उसने उस भाई और बालक को बाहर निकाला। बालक के अद्भुत रूप और लावण्य को देखकर वह सार्थवाह खुश हो गया। उसने उस भाई के पास इस बालक की मांग की। उस भाई ने भी प्रसन्नतापूर्वक वह बालक सार्थवाह को दे दिया। उस बालक को प्राप्त कर वह सार्थवाह बहुत खुश हो गया।

सार्थवाह ने उस बालक का नाम विनयंधर रखा। उसने अच्छी तरह से विनयंधर का पालन पोषण किया। धीरे-धीरे विनयंधर बड़ा होने लगा।

उस नगर में जिनेश्वर परमात्मा का एक गगनचुम्बी जिनालय था। एक बार विनयंधर उस मंदिर में पहुँचा । उसने प्रभु के दर्शन किए, तत्पश्चात् जिनमंदिर के पास में रहे उपाश्रय में पहुँचा, वहाँ आचार्य भगवंत धर्मोपदेश में प्रभु भक्ति का माहात्म्य समझा रहे थे। प्रवचन के बाद किसी श्रावक ने विनयंधर को धूप भेंट में दिया।

विनयंधर जिनमंदिर में चला गया और प्रभु की धूप-पूजा करने लगा। उसने भावपूर्वक प्रभु की धूप पूजा की। उसी समय उसके दिल में एक शुभ मनोरथ पैदा हुआ। उसने संकल्प किया कि 'जब तक धूप चालू रहेगा, तब तक मैं कायोत्सर्ग ध्यान में रहूंगा।'

उसी दिन एक यक्ष का वहाँ आगमन हुआ । विनयंधर को कायोत्सर्ग से चलित करने के लिए यक्षराज ने अपने प्रयत्न आरंभ किए, उसने अपने दिव्य प्रभाव से वह धूप चालू ही रहने दिया।

घंटों तक विनयंधर कार्योत्सर्ग ध्यान में ही रहा। वह अपने ध्यान से लेश भी विचलित नहीं हुआ। आखिर यक्ष प्रसन्न हो गया। उसने विनयंधर को कुछ वरदान

मांगने के लिए कहा। परन्तु विनयंधर ने मांगने से स्पष्ट इन्कार कर दिया।

आखिर प्रसन्न हुए यक्ष ने विनयंधर के गले में दिव्य हार डाल दिया और वह यक्ष अदृश्य हो गया।

इधर उसी नगर के महाराजा रत्नरथ की महारानी रत्नकांता की कुक्षि से उत्पन्न हुई भानुमती नाम की नवयौवन कन्या को सांप ने डंक दे दिया, वह बेहोश हो गई। भानुमती को मृत समझकर उसे शमशान घाट पर ले जाया गया।

भाग्ययोग से विनयंधर वहाँ आ गया। विनयंधर को जब सर्पदंश का पता चला तब उसने कहा, 'राजन्! आप निश्चिंत हो जायें, यह कन्या अभी ठीक हो जाएगी।'

उसी समय उसने दिव्य हार को पानी में डालकर उस पानी का छंटकाव किया। तत्क्षण वह कन्या सर्पदंश के विष में से मुक्त होकर पूर्ण स्वस्थ हो गई। भानुमती को स्वस्थ देख सभी के आश्चर्य का पार न रहा। सभी विनयंधर कुमार का खूब-खूब आभार मानने लगे।

राजा ने कहा, 'यह कोई उत्तम पुरुष लगता है।' राजा ने प्रसन्न होकर अपनी राजपुत्री का पाणिग्रहण (विवाह) विनयंधर के साथ करा दिया और उसे अपना आधा राज्य भी प्रदान कर दिया।

कुछ दिनों के बाद उस नगरी में किसी आचार्य भगवंत का आगमन हुआ। आचार्य भगवंत की धर्मदेशना सुनकर राजारानी के हृदय में संसार के प्रति वैराग्यभाव पैदा हो गया। राजा ने अपना शेष राज्य भी विनयंधर को सौंप दिया और राजा-रानी दोनों ने गुरुदेव के पास भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा अंगीकार कर वे निर्मल चारित्र धर्म का पालन करने लगे।

एक दिन विनयंधर झरोखे में बैठा हुआ था, तभी उसके दिमाग में विचार आया, 'अहो! देवाधिदेव परमात्मा की धूप पूजा का यह कैसा प्रभाव । यह सब राज-ऋद्धि-वैभव उसी धूप पूजा का ही प्रभाव है। मेरे माता-पिता कौन? यह मुझे पता नहीं है। तभी आकाश में देववाणी हुई कि तुम पोतनपुर नगर के वज्रसिंह महाराजा के पुत्र हो। बाल्यावस्था में ही पिता ने तुम्हें भयंकर जंगल में छोड़ दिया था।'

दिव्यवाणी से अपने स्वरूप को जानकर विनयंधर के दिल में अपने पिता पर रोष पैदा हुआ उसने अपने पिता को अपना पराक्रम बताने का निश्चय किया। विराट सैन्य के साथ विनयंधर ने पोतनपुर नगर को घेर लिया।

विराट सैन्य के अद्भुत पराक्रम को देख वज्रसिंह राजा नगर छोड़कर भागने लगा। तभी आकाश में देववाणी हुई, 'यह विनयंधर तो तुम्हारा ही पुत्र कमल है।'

देववाणी सुनकर राजा को अपना भूतकाल याद आया। उसे अपनी भूल का पश्चाताप होने लगा। वह अपने पुत्र से क्षमा याचना करने के लिए तैयार हो गया।

उसी समय विनयंधर का हृदय भी पिघल गया। वह भी अपने पिता के चरणों में गिर पड़ा। पिता-पुत्र का प्रेम से मिलन हुआ। वैर भाव का विसर्जन हो गया।

संसार के विचित्र स्वरूप को देख राजा को वैराग्य पैदा हो गया। वह विनयंधर को राज्य देने लगा। परंतु विनयंधर ने राज्य लेने से इन्कार कर दिया। उसने कहा, 'पिताजी! आप दीक्षा लेते हैं तो मैं भी दीक्षा लूंगा।'

आखिर एक शुभ दिन पिता-पुत्र ने अपना राज्य विमल को सौंप दिया और उन दोनों ने भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली। पिता-पुत्र दोनों ने निर्मल संयम धर्म का पालन किया।

वे दोनों मरकर देवलोक में उत्पन्न हुए। विनयंधर की आत्मा देवलोक में से च्यवकर महाविदेह में मानव भव प्राप्त कर शाश्वत अजरामर मोक्षपद प्राप्त करेगी।

E. दीपक पूजा का प्रभाव-

मणियारपुर नाम का एक सुंदर नगर था। शाम के समय सूर्य मंदिर का पूजारी घांची के वहाँ से तेल खरीद कर अपने घर जा रहा था। बीच मार्ग में जिनमंदिर आया। जिनमंदिर में प्रभु के दर्शन के साथ ही उसके मन में अहोभाव पैदा हुआ ।

उसने सोचा, 'मेरे पास अन्य कोई सामग्री तो नहीं है, अतः क्यों न इस तेल से प्रभु की दीपक पूजा कर अपने जन्म को कृतार्थ करूँ।'

उसने अपने पास रहे तेल में से दीप प्रकटाए और भावविभोर बनकर प्रभु की दीपक पूजा करने लगा।

उन दीपकों की ज्योति में प्रभुजी बहुत ही सुंदर दिखाई देने लगे।

सद्भाग्य से उसी समय उसके आगामी भव के आयुष्य का बंध पड़ा। वह मरकर वीतशोका नगरी में तेजसार नाम के राजा के रूप में पैदा हुआ। उसके मुख पर अपूर्व तेज था। अंत में केवलज्ञानी भगवंत के पास भागवती दीक्षा अंगीकार

की। सुंदर संयम धर्म के प्रभाव से वे मुनि कालधर्म प्राप्त कर अनुत्तर देवविमान में उत्पन्न हुए। वहाँ से च्यवकर मानव भव प्राप्त कर शाश्वत परमपद प्राप्त करेंगे।

F. अक्षत पूजा का प्रभाव–

राजगृही नगरी के बाहर गुणशील चैत्य में 500 शिष्यों से युक्त आचार्य भगवंत पू. श्री क्षेमंकरसूरिजी म. का आगमन हुआ।

आचार्य भगवंत की धर्मदेशना को सुनने के लिए हजारों नर–नारी उमड़ पड़े। आचार्य भगवंत ने धर्मदेशना में परमात्म–भक्ति की महिमा समझाई। जिसे सुनकर अनेक पुण्यात्माओं के अन्तर्मन में प्रभु–भक्ति के प्रति आदरभाव पैदा हुआ।

आचार्य भगवंत देशना दे रहे थे, तब पास के वृक्ष पर बैठे हुए तोता और मैना भी देशना सुन रहे थे। धर्मवाणी श्रवण के फलस्वरूप उन दोनों को जातिस्मरण ज्ञान हुआ। उनके हृदय में प्रभु भक्ति की भावना जागृत हुई।

वे दोनों शालि–क्षेत्र में से डांगर ले आते और डांगर में से चावल निकालकर प्रभु के सामने धर देते। काफी समय तक वे भावपूर्वक अक्षत पूजा करते रहे।

इस अक्षत पूजा के प्रभाव से वह तोता मरकर सिंहपुर नगर के जितशत्रु राजा के वहाँ अरिदमन राजकुमार के रूप में पैदा हुआ और वह मैना मरकर क्षितिप्रतिष्ठित नगरी में चंद्रावती नाम की राजपुत्री के रूप में पैदा हुई।

यौवन वय में उन दोनों का विवाह हुआ पूर्व भव के संस्कारों से वे प्रभु की अपूर्व भक्ति करने लगे। अंत में उन दोनों ने भागवती दीक्षा अंगीकार की। अंत में समस्त कर्मों का क्षय कर शाश्वत अजरामर मोक्ष पद के भोक्ता बनेंगे।

G. नैवेद्य पूजा का प्रभाव–

क्षेमंकर नगरी में शूर नाम का राजा राज्य करता था। यद्यपि उसके राज्य में सारी प्रजा सुखी थी, परंतु अपने ही तीव्र पापोदय के कारण हालिक किसान अत्यंत ही दुःखी था।

एक बार उसने आकाशगामिनी लब्धि के बल पर आकाशमार्ग से आते हुए चारण मुनि को देखा। धरती पर उतरते ही वे चारण मुनि खेत के पास में आए शांतिनाथ जिनमंदिर में चले गए और वहाँ प्रभुजी की भावभक्ति करने लगे।

चारण मुनि की भक्ति को देख हालिक के मन में विचार आया, 'ये परमात्मा अवश्य ही चमत्कारी होने चाहिये। जिनके दर्शन के लिए ये महात्मा लोग भी दूर–दूर से आते हैं।' इस प्रकार सोचकर वह भी मंदिर के निकट पहुँचा। उसी समय

चारण मुनि मंदिर में से बाहर निकल रहे थे। वह महात्मा के चरणों में गिर पड़ा और बोला, 'हे गुरुदेव! मैं बहुत दुःखी हूँ, आप मेरा उद्धार करो।'

महात्मा ने कहा–'अपने किए हुए कर्मों से ही आत्मा सुखी और दुःखी होती है, प्रभु की भक्ति करो। इस भक्ति के प्रभाव से पुण्य का बंध होगा जिसके प्रभाव से सारे दुःख स्वतः दूर हो जाएँगे।'

महात्मा की इस धर्मवाणी को सुनकर उसने एक कठोर अभिग्रह धारण किया। घर से जो भोजन सामग्री आएगी, उसमें से पहले प्रतिदिन प्रभु के आगे नैवेद्य के रूप में अवश्य सुपात्रदान करूंगा।

प्रतिदिन दोपहर के समय में उसकी धर्मपत्नी घर से भाता लेकर आती थी। वह उस भाते में से कुछ आहार प्रतिदिन प्रभु के सामने धरकर नैवेद्य पूजा करता था। इस प्रकार दिन पर दिन व्यतीत होने लगे।

एक दिन उसकी परीक्षा हुई। उसकी पत्नी बहुत देर से भोजन की सामग्री लेकर आई। उसे कडकड़ाहट की भूख लगी हुई थी। भोजन सामग्री आते ही वह भोजन के लिए बैठ गया, परंतु उसी समय उसे अपना नियम याद आ गया। वह तत्काल भोजन सामग्री लेकर मंदिर की ओर गया। उसने मंदिर के द्वार पर एक सिंह को बैठे हुए देखा, परंतु मौत की परवाह किए बिना ही वह निर्भय होकर मंदिर में चला गया। उसने भावपूर्वक प्रभु के चरणों में नैवेद्य पूजा की। वह जैसे ही बाहर आया, वहाँ से सिंह गायब था।

वह वापस अपने स्थान पर आकर भोजन के लिए बैठ गया, परंतु उसी समय उसे 'धर्मलाभ' का आशीष देते हुए साधु महात्मा दृष्टिगोचर हुए। महात्मा को देखकर वह प्रसन्न हो गया। उसने उसी समय महात्मा को आहार-पानी का लाभ देने के लिए विनंती की। उसके भाव देखकर महात्मा ने अपना पात्र नीचे रखा। उसी समय उसने सारा भोजन महात्मा के पात्र में वहोरा दिया। महात्मा 'ना,ना' कहते ही रह गए।

सुपात्र दान का लाभ मिलने से हालिक की प्रसन्नता का पार नहीं था। कुछ क्षणों में ही वहाँ का दृश्य बदल गया।

महात्मा के स्थान पर हालिक किसान ने अपने आगे खड़े देवता को देखा। वह देव प्रसन्न होकर कह रहा था, 'जो मांगना हो सो मांगो।'

हालिक ने कहा, 'मेरा दारिद्र्य दूर कर दो।' देव ने प्रसन्न होकर उसकी बात स्वीकार कर ली।

इधर उसी नगरी के शूर राजा की पुत्री विष्णुश्री का स्वयंवर रचा हुआ था। उस स्वयंवर के प्रसंग पर अनेक राजकुमार स्वयंवर मंडप में उपस्थित हुए थे। कौतुक वृत्ति से वह हालिक भी स्वयंवर मंडप में गया।

विष्णुश्री कन्या ने किसी भी राजकुमार के गले में वरमाला नहीं डाली। अंत में वह उस हालिक के पास आई और उसके गले में वरमाला डाल दी।

यह दृश्य देखकर अन्य राजकुमार आगबबूला हो उठे... परंतु दैवीय प्रभाव से वे हालिक का लेश मात्र भी बाल बांका नहीं कर सके।

अंत में धूमधाम के साथ हालिक का राजपुत्री के साथ पाणिग्रहण हुआ।

राजा को अन्य कोई पुत्र नहीं था, उसने अपना राज्य भी हालिक को सौंप दिया और स्वयं ने भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली।

नैवेद्य पूजा के इन महान लाभ को प्रत्यक्ष देखकर हालिक के मन में प्रभु की भक्ति का भाव बढ़ने लगा। वह पूर्ण उत्साह के साथ नैवेद्य आदि द्रव्यों से परमात्मा की पूजा करने लगा। इस परमात्मा भक्ति के फलस्वरूप वह हालिक किसान मरकर देवलोक में उत्पन्न हुआ। वहाँ से च्यवकर मनुष्य भव प्राप्त कर चारित्रधर्म का स्वीकार कर शिवसुख का भोक्ता बनेगा।

H. फल पूजा का प्रभाव–

वसंतपुर नगर में चंद्र नाम का एक मिथ्यादृष्टि व्यक्ति रहता था। उसे जैन धर्म के प्रति कट्टर द्वेष था। वह मिथ्यात्व के रंग में रंगा हुआ था। एक दिन किसी जैन मित्र के आग्रह से जिनमंदिर में गया। मंदिर में परमात्मा को देखते ही उसके हृदय में भाव उछलने लगे। प्रशमरस निमग्न परमात्मा को देखते उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया । उसे अपना पूर्व भव दिखाई दिया। पूर्वभव में वह प्रतिदिन परमात्मा की फल पूजा करता था। वह जिनेश्वर भगवंत का उपासक श्रावक था। परंतु एक बार पापोदय से उसके दिल में अशुभ भाव पैदा हो गया। 'प्रभु को ये फल चढ़ाने की क्या आवश्यकता है' इस दुर्भाव के कारण वह सम्यक्त्व से भ्रष्ट हुआ। उसने प्रभु पूजा बंद कर दी। इस भाव विराधना के कारण वह मरकर मिथ्यात्व कुल में पैदा हुआ।

अपनी इस स्थिति को देख उसे अपने पाप का तीव्र पश्चाताप होने लगा। वह पुनः प्रभु की नित्य फल पूजा करने लगा। गुरु भगवंत की धर्मवाणी के श्रवण से उसके हृदय में भावोल्लास बढ़ने लगा।

वह उत्तम फल चढ़ाकर प्रभु की फल पूजा करने लगा, इसके फल स्वरूप वह मरकर देवलोक में पैदा हुआ। वहाँ से च्यवकर वह मानव भव प्राप्त करेगा। अंत में भागवती दीक्षा अंगीकार कर शाश्वत अजरामर मोक्ष पद प्राप्त करेगा।

जिनपूजा तारणहारी

मुगल सम्राट अकबर बादशाह के बडे पुत्र जहांगीर के यहाँ पुत्री का जन्म हुआ। ज्योतिषियों ने बालिका का जन्म मूल नक्षत्र में होने से पिता के लिए कष्टदायक होना बताया। बादशाह ने जैन गुरु भानुचन्द्रविजयजी जो जगद्गुरु हीरसूरिजी के शिष्य थे। उनसे पूछा कि कष्ट निवारणार्थ क्या किया जाय? भानुचंद्रजी ने फरमाया कि जैन मंदिर में स्नात्र पूजा कराई जाय तो कष्ट दूर हो सकता है। महोत्सव बड़े ही ठाठ-बाट के साथ प्रारंभ हुआ। सम्राट अकबर अपने पुत्र जहाँगीर व अन्य दरबारियों के साथ उपस्थित हुआ। मुनि भानुचन्द्र व मुनि मानसिंह (जैनाचार्य श्री जिनचंद्रसूरि के शिष्य) ने स्नात्र विधि सम्पन्न कराई। मुनि भानुचन्द्रविजयजी ने स्वयं भक्तामर महास्तोत्र का पाठ किया। सम्राट अकबर व पुत्र जहाँगीर ने खड़े रहकर सम्पूर्ण स्नात्र पूजा विधि की। सुवर्ण पात्र से दोनों ने स्नात्र जल ग्रहण किया। फिर सम्राट व युवराज के सुख शान्ति में निरंतर वृद्धि हुई। जन्म से अजैन अकबर जहागीर ने आजीवन जिनेश्वर परमात्मा की कृपा का आभार माना

✻ भूतकाल में बाहु राजा का कोढ़ सूरजकुंड के न्हवण जल से दूर हुआ था।

✻ सूरजकुंड के पवित्र जल से चंद्र राजा कुकडे में से फिर मानव बन गया।

✻ गजपद कुंड का जल अत्यंत पवित्र माना जाता है, जिसके जल से दुर्गंधा नारी ने अपने शरीर की दुर्गंध दूर की थी।

जब, ऐसे तीर्थजल के पवित्र पानी मात्र से इतना प्रभाव अनुभव में आता हो तब वही जल करुणा के सागर-वात्सल्य से परमात्मा का स्पर्श पाया हुआ जल कितना प्रभावशाली बन जाता होगा उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। औषध मिश्रित, एवं मंत्रोच्चारणपूर्वक परमात्मा को स्पर्श किया हुआ जल अचिन्त्यशक्ति युक्त विशेष प्रभावशाली बन जाता है उसमें कोई शंका नहीं। इस प्रकार के जल से निश्चित रूप से सभी प्रकार के ईति-उपद्रव-मारी-मरकी-रोग-शोक-भय-दीनता-दरिद्रता-पर विद्या का दुष्प्रभाव-ग्रहों का दुष्प्रभाव दूर हो जाता है और जीवन में सुख-शांति एवं समृद्धि की प्राप्ति होती है।

✻ स्नात्र जल के छिंटकाव से जादव की जरा दूर हुई।

✻ स्नात्र जल के प्रभाव से ही श्रीपाल राजा का कोढ़ रोग दूर हुआ, साथ में रहे

हुए सात सौ कोढ़ियों का कोढ़ रोग दूर हुआ और काया नीरोगी एवं कंचन जैसी बन गयी। इतिहास के पन्नों पर ऐसे कई किस्से मौजूद हैं।

- ✻ नवांगी टीकाकार प. पू. आचार्यदेव श्री अभयदेवसूरि म.सा. का कोढ़ रोग अभिषेक जल से ही दूर हुआ था।
- ✻ पालनपुर (प्रहलादनपुर) को बसाने वाले प्रहलाद राजा का दाह रोग इसी तरह अभिषेक जल से ही दूर हुआ था।

हजारों गाँवों में, नगरों में भूत-प्रेत उपद्रव आदि के समय में उपद्रव शांति अभिषेक जल की शान्तिधारा से ही हुई है।

- ✻ सोलहवें तीर्थंकर श्री शांतिनाथ भगवान जब माता अचिरादेवी के गर्भ में थे तब नगर में फैले हुए मरकी रोग के निवारण हेतु अचिरा माता के हाथों शुद्ध बने स्नात्र जल का छिड़काव पूरे नगर में किया गया और फलस्वरूप पूरा नगर रोग मुक्त हुआ। श्री संघों में आज वह विधान रूप में स्थापित है। जब कहीं भी स्नात्रपूजा होती है, तब समग्र अभिषेक जल की विधिपूर्वक एक नवकार, उवसग्गहरं एवं बृहद् शांति स्तोत्र के पाठ के उच्चाणपूर्वक भरने का विधान प्रचलित है। उसे भरते समय विशेष समृद्ध करने के लिए हरी घास में से पसार करना चाहिये। इस अभिषेक जल के छिड़काव से सभी प्रकार के उपद्रव नष्ट होते हैं।
- ✻ विक्रम संवत् 1956 की बात है, समग्र भावनगर शहर में कोलेरा (Cholera) रोग फैला हुआ था। सभी नगर जनों की आशा जैन शासन के आर्हत् धर्म पर हुई। उस वक्त वहाँ पर प.पू. पंन्यास श्री गंभीरविजयजी म.सा. विराजमान थे। उन्होंने उपद्रव निवारण हेतु संकल्प सहित परमात्मा का स्नात्र महोत्सव का आयोजन करना तय किया। वैशाख वदि छट्ठ के दिन विधिपूर्वक स्नात्र के लिये जल लाया गया, वैशाख वदि बारस के दिन बड़े ठाठ से परमात्मा का स्नात्र महोत्सव हुआ। कार्य भी जन हित का था, पूजा में असीम उत्साह था। बड़े उत्साहपूर्वक वरघोड़ा निकाला गया पूरे नगर के चारों ओर स्नात्र जल का छिड़काव किया गया। इस जल धारा के प्रभाव से व्याधि की शांति होती गयी एवं चंद दिनों में ही भावनगर, शहर रोग से मुक्त हो गया। (श्री जैन धर्म प्रकाश अंक-3, संवत् 1956, पाठशाला ग्रंथ, प.पू. आचार्यश्री प्रद्युम्नसूरिजी म.सा.)

* वि.सं. 2041-42-43 के भयंकर दुष्काल से गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ में ग्रसित हुए नदी, तालाब आदि सूखे पड़े हुए थे, सबको बरसात का ही इंतजार था। इस परिस्थिति के उपायरूप पुण्योदय की जागृति के लिये प. पू. आचार्य भगवत् श्री प्रद्युम्नसूरिजी म.सा. ने श्री शत्रुंजय तीर्थाधिपति श्री आदिनाथ दादा के अभिषेक का उपाय बताया और आगमप्रज्ञ प.पू. मुनिराज श्री जंबूविजयजी म.सा. के साथ चर्चा कर अभिषेक के लिए विधान की तैयारियाँ हुई।

सभी प्रकार के उत्तम द्रव्य विपुल प्रमाण में मँगवाये गये। अंबर, कस्तूरी जैसे दुर्लभ कीमती द्रव्यों, सुगंधी द्रव्य, केसुड़ा के फूल, अगरू काष्ट इत्यादि और गजपद कुंड, विविध नदियों के जल इत्यादि सामग्री मंगवायी गयी। उत्साह और उल्लसित वातावरण में मंगलवेला में प्रभुजी का अभिषेक प्रारंभ हुआ। चतुर्थ मंगलमृत्तिका स्नात्र में जिन प्रतिमा को लेप हेतु मृत्तिका के प्रवाही लेप द्वारा एक हाथों से मर्दन करके विलेपन किया, विलेपन का पूर्ण असर बिंब को पहुँचे इसलिये विलेपन थोड़ी देर ऐसे ही रहने दिया। मंगलमृतिका के बाद पंचगव्य और क्रमशः अभिषेक धारा आगे बढ़ते हुए सातवाँ अभिषेक शुरु हुआ सभी को आश्चर्य हो उस तरह से बीच आकाश में बड़े-बड़े काले बादल छाने लगे, कुछ ही देर में पूरा आकाश काले बादलों से भर गया। धीमे छींटें पड़ने शुरू हो गये, थोड़ी ही देर में बिजली के चमकार और बादलों की गर्जना के साथ ही जोरों की बरसात शुरू हो गई। 18 अभिषेक पूर्ण करके नीचे उतरते समय देखा कि ऊपर चढ़ते समय जो इच्छाकुंड, कुमारकुंड इत्यादि बिल्कुल शुष्क दिख रहे थे वह न सिर्फ भर गये थे बल्कि बहते हुए नजर आने लगे। उसी दिन शाम को फिर से जोरों की बारिश हुई और संपूर्ण गुजरात, सौराष्ट्र, कच्छ आदि स्थानों पर भी अच्छी बारिश के समाचार प्राप्त हुए। यह चमत्कार था और उसका कारण था श्रद्धा, भक्ति और संकल्प सहित किया हुआ अभिषेक।

प्राणि मात्र के जीवन पर ग्रहों का प्रभाव सुविदित है और नवग्रह भी तीर्थंकर भगवंत के चरणों में सेवा के लिए तत्पर रहते हैं।

अरे ! औषधि मिश्रित जल अभिषेक सतत छः महिने तक करने से असाध्य रोग भी ठीक होने का आश्चर्यकारी परिणाम देखने में आया है।

अतः परमात्मा का अभिषेक न केवल पुण्य प्रदान करता है, बल्कि अतिमांगलिक विधान है। प्रतिमा का स्पर्श पाते ही जल, औषधि का रूप ले लेता

है और हमारे भावों को विकृति से प्रकृति तक ले जाने का सामर्थ्य रखता है। हम सभी को परमात्म पूजा में उद्यमी बनकर अपने मानव जीवन को सफल बनाना चाहिए।

गिरनार के श्री नेमिनाथ परमात्मा की प्रतिमाजी

इस जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र के गत चौबीसी के सागर नामक तीसरे तीर्थंकर को केवलज्ञान प्राप्त हुआ था। उत्तमज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् विविध प्रदेशों में विचरण करते हुए वे अपने चरणकमल की रज द्वारा भरतखंड की धन्य-धरा को पावन कर रहे थे। एक बार उज्जयिनी नगरी के बाहर उद्यान में करोड़ों देवों द्वारा रचित समवसरण में परमात्मा की सुमधुर देशना का अमृतपान कर रहे नरवाहन राजा ने परमात्मा से प्रश्न किया कि 'हे प्रभु ! मेरा मोक्ष कब होगा ?' परमात्मा ने कहा कि -''अगली चौबीसी के बाईसवें तीर्थंकर बालब्रह्मचारी श्री नेमिनाथ भगवान के शासन में तेरा मोक्ष होगा।'' अपने भावीवृत्तांत को जानकर वैराग्यवासित बने नरवाहन राजा भगवान के पास दीक्षा लेकर संयमधर्म की उत्कृष्ट आराधना करने लगे। कालक्रम से आयुष्य पूर्ण होते ही नरवाहन राजा का जीव पाँचवे देवलोक में दस सागरोपम के आयुष्यवाला इन्द्र बना।

अष्टमहाप्रातिहार्ययुक्त विश्वविभु विचरण करते-करते चंपापुरी के महाउद्यान में पधारे। उस समय वैराग्यसभर वाणी द्वारा बारह पर्षदा को प्रतिबोध करते हुए परमेश्वर चौदह राजलोक में रहे हुए सिद्धजीव और सिद्धशिला के स्वरूप को सुरम्य वाणी द्वारा प्रकाशित कर रहे थे कि-

'45 लाख योजन के विस्तारवाली, उलटे छत्र के आकारवाली, श्वेतवर्ण की सिद्धशिला है। वह चौदह राजलोक के अग्रभाग पर बारह देवलोक, नव ग्रैवेयक, सर्वार्थसिद्ध नामक अनुत्तरविमान से 12 योजन उपर स्थित है। सिद्धशिला मध्य भाग में आठ योजन मोटी है और दोनों तरफ पतली होते-होते मक्खी के पंख जितनी अतिशय पतली होती है। मोती, शंख, स्फटिकरत्न समान अतिनिर्मल, और उज्ज्वल ऐसी सिद्धशिला और अलोक के बीच एक योजन का अंतर होता है। इस अंतर में उपर की सपाटी पर उत्कृष्ट से 333 धनुष्य और 32 अंगुल के जघन्य देहप्रमाण वाले सिद्ध के जीव आठ कर्मों से मुक्त होकर अलोक की सपाटी को स्पर्श करके रहे हुए है, उस भाग को मोक्ष कहते हैं। मोक्ष के मुक्ति, सिद्धि, परमपद, भवनिस्तार, अपुनर्भव, शिव, निःश्रेयस, निर्वाण, अमृत, महोदय, ब्रह्म, महानंद आदि अनेक नाम हैं। उस मुक्तिपुरी में अनंत सिद्ध जीव अनंत सुख में वास करते हैं। वे अविकृत, अव्ययरूप, अनंत, अचल, शांत, शिव, असंख्य, अक्षय,

अरूप और अव्यक्त हैं। उनका स्वरूप मात्र जिनेश्वर परमात्मा अथवा केवली भगवंत ही जानते हैं। सर्वार्थसिद्ध विमान में निर्मल अवधिज्ञानवाले महेन्द्रों को एक करवट बदलने में 16।। सागरोपम और दूसरी करवट बदलने में 16।। सागरोपम का काल पसार होता है। इस तरह 33 सागरोपम के आयुष्य को अगाध सुख में सोते-सोते ही पूर्ण करते हैं। इससे भी अनंतगुणा सुख मोक्ष में है। योग से पवित्र ऐसे पुरुष कर्म का नाश होने से स्वयं ही जान सकते हैं, किन्तु वचन द्वारा वर्णन न हो सके ऐसा मुक्तिसुख सिद्ध के जीव प्राप्त करते हैं।

इस देशना के समय पाँचवे देवलोक में इन्द्र बना हुआ नरवाहन राजा का जीव वीतराग की वाणी का सुधापान करके, स्वर्ग के सुखों की निःस्पृहता रखकर, सर्वज्ञ भगवंत को नमन करके पूछता है, 'हे स्वामी! मेरे इस भवसागर का परिभ्रमण कभी रूकेगा या नहीं? आपके द्वारा वर्णन किए हुए मुक्तिरूप मेवा का आस्वादन करने का अवसर मुझे मिलेगा या नहीं? उसकी शंका का निवारण करते हुए धर्मसार्थवाह प्रभु कहते हैं, 'हे ब्रह्मदेव ! आनेवाली अवसर्पिणी में श्री अरिष्टनेमि नामक बाईसवें तीर्थंकर होने वाले हैं। आप उनके वरदत्त नामक प्रथम गणधर पद को प्राप्त करके, भव्यजीवों को बोध कराके, सर्वकर्मों का क्षय करके, रैवतगिरि के आभूषण बनके परमपद को प्राप्त करेंगे। यह निःसंशय बात है।' प्रभु के इन अमृतवचनों को सुनकर आनंदविभोर हुए ब्रह्मेन्द्र 'सागर' प्रभु को अत्यंत आदरपूर्वक वन्दन करके अपने देवलोक में जाता है।

''अहो ! मेरे अज्ञानरूपी अंधकार का छेदन करने वाले, मेरे भवसंसार के तारणहार मेरे आसन्न उपकारी श्री नेमिनाथ परमात्मा की उत्कृष्ट रत्नों की मूर्ति बनाकर उनकी भक्ति द्वारा मेरे कर्मों का क्षय करूँ।'' इस भाव के साथ बारह-बारह योजन तक जिनकी कांति फैले ऐसे अंजन स्वरूपी प्रभु की वज्रमय प्रतिमा बनाकर दस सागरोपम तक प्रतिदिन शाश्वत प्रतिमा की तरह संगीत-नृत्य-नाटकादि द्वारा त्रिकाल उपासना करते हैं। इस तरह श्री नेमिनाथ प्रभु की भक्ति में उत्तरोत्तर उत्तमभाव लाकर स्व आयुष्य की अल्पता को जानकर उस प्रतिमा के साथ सुवर्णमय, रत्नमय ऐसी अन्य प्रतिमाओं को भी रैवताचल पर्वत की गुफा में कंचनबलानक नामक चैत्य का निर्माण करके स्थापना की। स्व आयुष्य पूर्ण करके, यहाँ से च्यवन करके अनेक बड़े-बड़े भवों को प्राप्त करके वह नेमिनाथ प्रभु के समय में पुण्यसार नामक राजा बना।

यह पुण्यसार राजा पूर्वभवों में स्वयं भरायी हुई देवाधिदेव की मूर्ति की दस-दस सागरोपम काल तक की हुई भक्ति के प्रभाव से गणधरपद प्राप्त करके नेमिनाथ भगवान के वरदत्त नामक प्रथम गणधर बनेंगे और शिवरमणी के संग में शाश्वत सुख का उपभोग करेंगे।'' समवसरण में देशना दरम्यान श्री नेमिनाथ प्रभु के इन मधुरवचनों को सुनकर उस समय के ब्रह्मेन्द्र उठकर परमात्मा को नमस्कार करके कहते हैं कि - 'हे भगवंत! (आपकी उस प्रतिमा को मैं आज भी पूजता हूँ,) मेरे पूर्वज इन्द्रों ने भी भक्ति से उसकी उपासना की है। पाँचवें देवलोक में उत्पन्न होने वाले सभी ब्रह्मेन्द्र आपकी उस प्रतिमा की पूजा भक्ति करते थे। और आज आपके बताने पर ही इस प्रतिमा की अशाश्वतता का पता चला है। हम तो इसे शाश्वत ही मानते थे। उस समय प्रभु कहते हैं कि - 'हे इन्द्र! तिर्च्छालोक की तरह देवलोक में अशाश्वती प्रतिमा नहीं होती इसलिए आप उस प्रतिमा को यहाँ लाओ।' प्रभु की आज्ञा से इन्द्र शीघ्र उस जिनप्रतिमा को ले आए। कृष्ण महाराजा ने हर्ष से पूजा करने के लिए वह मूर्ति इन्द्र से ग्रहण की। सुर-असुर और नरेन्द्र श्री नेमिनाथ प्रभु को वन्दन करके उनके मुख से रैवताचलगिरि का माहात्म्य सुनने लगे।

प्रभु कहते हैं- 'यह रैवताचलगिरि पुंडरिक गिरिराज का सुवर्णमय पाँचवाँ मुख्य शिखर है, जो मंदार और कल्पवृक्ष आदि उत्तम वृक्षों से लिपटा हुआ है। यह महातीर्थ हमेशा झरते हुए झरनों से भव्य जीवों के पापों का प्रक्षालन करता है। इसके स्पर्श मात्र से हिंसा के पाप दूर हो जाते हैं।

- सभी तीर्थ की यात्रा के फल को देनेवाले इस गिरनार के दर्शन और स्पर्शन मात्र से सर्व पाप नाश होते हैं।
- इस गिरनार तीर्थ पर आकर जो न्यायोपार्जित धन का सद्व्यय करते हैं, उन्हें जन्मोंजन्म संपत्ति की प्राप्ति होती है।
- जो यहाँ आकर भाव से जिनप्रतिमा को साक्षात् जिन मानकर उस की पूजा करते हैं, वे मोक्ष मुख को प्राप्त करते हैं, तो मानवसुख की तो बात ही क्या करनी?
- जो यहाँ सुसाधु को शुद्ध अन्न, वस्त्र और पात्र वहोराते हैं, वे मुक्ति रूपी स्त्री के हृदय को आनंदित करते हैं।

* इस रैवतगिरि पर स्थित वृक्ष और पक्षी भी धन्य और पुण्यशाली हैं, तो मनुष्यों की तो बात ही क्या करनी?
* गिरनार पर रहे हुए गजपद कुंड आदि अन्य कुंडों का अलग-अलग विशेष प्रभाव है, जिसमें मात्र 6 महीने स्नान करने से प्राणियों के कुष्ठादि रोग नाश होते हैं।

इस प्रकार बालब्रह्मचारी श्री नेमिनाथ परमात्मा के मुखकमल से गिरनार तीर्थ की महिमा सुनकर सभी पुण्यशाली जन आनंदित होते हैं। उस अवसर पर श्रीकृष्ण वासुदेव प्रश्न करते हैं, 'हे परम करूणासागर! यह प्रतिमा जो मेरे प्रासाद में स्थापित करवानी है, वह वहाँ कितने समय तक रहेगी? इसके बाद इसकी कहाँ-कहाँ पूजा होगी?'

प्रभु कहते हैं, 'जब तक द्वारिकापुरी रहेगी तब तक वह प्रतिमा तुम्हारे प्रासाद में पूजी जाएगी। उसके बाद कांचनगिरि पर देवताओं के द्वारा इसकी पूजा होगी। मेरे निर्वाण के 2000 वर्ष के बाद अंबिका देवी की आज्ञा से उत्तम भावनावाला रत्नसार नामक वणिक एक गुफा में से प्रतिमा को रैवतगिरि के प्रासाद में विराजमान कर, पूजा करेगा। बाद में 1,03,250 वर्ष तक यह प्रतिमा वहाँ रहकर फिर वहाँ से अदृश्य होगी। उस समय दुषम-दुषम काल का छठा आरा प्रारंभ होते ही अधिष्ठायिका अंबिकादेवी उस जिनबिंब को ले जाकर पाताललोक में पूजेगी। अन्य देवता भी उसकी पूजा करेंगे।

वर्तमान काल में विराजमान गिरनार मंडन श्री नेमिनाथ भगवान के अद्भुत इतिहास को जानकर सार यह निकलता है कि यह प्रतिमा अतीत चौबीसी के तीसरे सागर तीर्थंकर परमात्मा के काल में पाँचवें ब्रह्मलोक देवलोक के ब्रह्मेन्द्र द्वारा भरवायी गयी है। इस कारण से भरतक्षेत्र में वर्तमान में प्राचीनतम प्रतिमा में से एक कही जा सकती है।

श्री नेमिनाथ प्रभु की प्रतिमा की प्राचीनता का कालअतीत उत्सर्पिणी के प्रथम आरे के 21000 वर्ष + दूसरे आरे के 21000 वर्ष + तीसरे आरे के 84000 वर्ष के बाद सागर तीर्थंकर हुए इसलिए 21000+21000+ 84000=126000 वर्ष व्यतीत होने के कुछ वर्षों के बाद ब्रह्मेन्द्र द्वारा प्रतिमा भरवायी हुई होगी। इस कारण से अतीत उत्सर्पिणी के 10 कोड़ाकोड़ी सागरोपम में 126000 से कुछ अधिक वर्ष न्यून काल अतीत उत्सर्पिणी का हुआ।

126000 वर्ष न्यून 10 कोड़ाकोड़ी सागरोपम में वर्तमान अवसर्पिणी काल के 10 कोड़ाकोड़ी सागरोपम काल में से छट्ठे आरे के 21000 वर्ष तथा पाँचवें आरे के शेष 18460 वर्ष कम करने पर 39460 वर्ष न्यून इस अवसर्पिणी काल की प्राचीनता का होता है। इसीलिए-

126000 वर्ष न्यून 10 कोड़ाकोड़ी सागरोपम

\+ 39460 वर्ष न्यून 10 कोड़ाकोड़ी सागरोपम

1165460 वर्ष न्यून 20 कोड़ाकोड़ी सागरोपम

वर्तमान श्री नेमिनाथ परमात्मा की प्रतिमा 165460 वर्ष न्यून 20 कोड़ाकोड़ी सागरोपम वर्ष प्राचीन है!!! यह कोई कपोल कल्पित गणित नहीं अपितु शास्त्रों की वाणी है। इतिहास की अमिट अमरता को स्वयं में संजोए सकारात्मकता की प्रभावक ऊर्जा के केन्द्र धर्म तीर्थस्थल एवं तत्र विराजित जिनेश्वर भगवंतों की नयनरम्य प्रतिमायें हमारे कल्याण और उद्धार के आधारभूत हैं। प्रतिमादर्शन-प्रतिमापूजन के संस्कारों को विकसित कर हमें मानवजीवन की महत्ता को प्रगाढ़ करना है।

गत चौबीसी में आषाढी श्रावक द्वारा निर्मित शंखेश्वर पार्श्वनाथ

अनुमान के आकाश को ढँकनेवाले विराट पँख भी जहाँ तक न पहुँच पाये, ऐसे उस अतीत का कोई खुशनुमा प्रभात खिला था। उस अतीत का तनिक अंदाज देने के लिए आज के विज्ञानी का कम्प्यूटर-गणित भी गलती कर सकता है। सर्वज्ञानी की 'गणक संज्ञा' ही वहाँ गतिमान हो सकती है। कोड़ाकोड़ी सागरोपम के नाम से पहचाने जाते मापक-गणक अनुसार वह अतीत यानि 19 कोड़ाकोड़ी सागरोपम बरसों पहले का भव्य भूतकाल। वर्तमान में चल रहे 'अवसर्पिणीकाल' के पूर्व का 'उत्सर्पिणीकाल' चल रहा था, उस काल के नौवें तीर्थपति श्री दामोदर स्वामी थे, उस समय पुण्य के सर्वोत्कृष्ट - प्रभाव से सुहाते गत चौबीसी के तीर्थंकर श्री दामोदरस्वामी के समवसरण का सर्जन हुआ था। उससे पहले आठ-आठ तीर्थंकरों का शासन स्थापित हो चुका था। नौवें तीर्थपति भगवान दामोदर स्वामी के समवसरण जगह-जगह रचे जा रहे थे और अनगिनत मानवी उसमें पवित्र और पावन हो रहे थे।

धर्म सभा का प्रारंभ हुआ। देव आये, देवियाँ आईं। राजा एकत्र हुए, रानियाँ भी आईं। नर-नारियों के समूह आये। उस धर्म-सभा में बारह प्रकार की पर्षदाएँ एकत्र हुई। हर हृदय के अनबूझ सवालों को बुझानेवाली उस धर्म सभा में कितने ही जिज्ञासु बिना पूछे ही प्रत्युत्तर पा कर संतोष का स्मित फैला रहे थे।

श्रावक आषाढ़ी! उस के मन में भी एक ऐसा प्रश्न कई दिनों से उठता था कि, संसार के इस पिंजरे का बंधन तोड़कर मेरा आत्म-पंछी कब मुक्ति पायेगा? विराट नीलाकाश में मुक्त-विहार का सुख जिस के नसीब में लिखा गया है, ऐसा मेरा आत्मपंछी कब इस पिंजरे के द्वार खोलकर मुक्त गगन में उड्डयन करेगा? उस के रोमरोम में से यही प्रश्न उठता और आषाढी हररोज उस का समाधान चाहता। समवसरण में उपस्थित आषाढी के होठों पर जिज्ञासा की तीव्र प्यास थी और सामने ही अमृत की प्याली भरी हुई पड़ी थी। आषाढ़ी ने अंजलिबद्ध वंदन कर प्रभु को पूछा कि 'हे भगवन् ! मेरी मुक्ति कब होगी?'

भगवान के ज्ञान-चक्षुओं के समाने तो सब प्रत्यक्ष ही था। प्रभुवाणी की वीणा झंकृत हुई 'आषाढ़ी ! जिस काल में और जिस समय तुम मोक्ष पाओगे, उस काल

आषाढी श्रावक द्वारा निर्मित शंखेश्वर पार्श्वनाथ

आषाढ़ी देव।

में और उस समय में भगवान पार्श्वनाथ का शासनकाल होगा। आगामी चौबीसी के तेईसवें तीर्थपति श्री पार्श्वनाथ स्वामी के तुम 'आर्यघोष' नामक गणधर बनकर मुक्ति पाओगे।'

जिज्ञासा की प्यास मिट गई और अंतर में अमृतसम तृप्ति का एहसास हुआ। आषाढ़ी आनंदित हो उठा। धन्य प्रभु ! धन्य-धन्य है आपकी वाणी! मेरी मुक्ति होगी वह भी गणधर बनकर? आषाढ़ी का आनंद आषाढ़ मास की धाराओं की तरह फूट पड़ा 'आनेवाली अवसर्पिणी के तेईसवें तीर्थपति की मैं बलैंयाँ लेता हूँ। जिनका शासन-तीर्थ मेरे लिए भवजल को तैरने की नैया बनेगा। तब उन की भक्ति रात-दिन मुझे करनी ही होगी। उस भगवान की एक ऐसी प्रतिमा का मैं निर्माण करूँ कि जिसे देखते ही तन, मन, नयन नृत्य कर उठे!'

आषाढ़ी ने अपने उपकारकर्ता की स्मृति के लिए एक अमर सर्जन का निश्चय किया। आकाश में घूमते नक्षत्रों ने मंगलघड़ी रची। उसी समय शिल्पी का हथोड़ा उठा, पाषाण में प्राण आते गये और पत्थर में से प्रभु प्रकट हुए।

जिसे देखते ही आंखें और हृदय बलैयाँ ले, ऐसी एक अमर प्रतिमा बनी! किसी शुभ घड़ी में उस में प्राण-प्रतिष्ठा हुई और उस प्रतिष्ठा ने इस सर्जन को अमर कर दिया। अब आषाढ़ी के लिए जीवन, आदर्श, गति, प्रगति सब कुछ यह प्रतिमा ही बन गई। उस अमर-सर्जन को निहारते ही आषाढ़ी की आँखें हर्ष के आँसूओं से छलक जाती 'ओह ! धन्य भाग है मेरा, इन प्रभु का शासन पा कर मैं भव के इस महासागर के उस पार पहुँच जाऊँगा।

वह अमर-सर्जन, पार्श्वनाथ भगवान की वह प्रतिमा, अनेकों के अंतःकरण का आकर्षण बन गई। उस की त्रिकाल पूजा स्वरूप द्रव्यपूजा की फलश्रुति के तौर पर आषाढ़ी श्रावक ने संयम को धारण किया। बर्षों तक निरतिचार चारित्र्य पालन के प्रभाव से महामुनि आषाढ़ी कालधर्म पाने के बाद में वैमानिक देव बने। परलोक-प्रस्थान की उस कठिन घड़ी में भी उनकी आँखों के सामने वह अमर-सर्जन अविकल रहा। उन की जिह्वा अपने उस भावि-उपकारी की प्रशस्तियाँ गाती रहीं और प्रभु पार्श्व के ध्यान में ही मृत्यु पानेवाले उन को वैमानिक देव का भव प्राप्त हुआ।

जैसे पूनम की ओर कदम बढ़ाता बीज का चांद! जैसे पूनम के प्रकाश में महासागर का उछलता हुआ ज्वार ! बस ऐसे ही उस अमर-सर्जन की, उस प्रतिमा की कीर्ति दिन-ब-दिन बढ़ती ही गई।

(2)

स्वर्ग-लोक की सूनी पड़ी एक शय्या सनाथ बन रही थी, पंख फड़फड़ाते कोई पंछी स्वर्गलोक के पिंजरे में आ गया। चारों ओर आनंद फैला। देवलोक में उत्पन्न हुए उस देव ने, अपने जीवन के अतीत में झाँका। अवधिज्ञान की प्रकाश-किरण उसके पथ को प्रकाशित कर रही। पल दो पल में आनंदी बनते हुए उस का हृदय हर्षित हो उठा 'प्रणाम पार्श्वप्रभु ! आप के तीर्थ के घाट पर जनम-जनम के पाप-मैल धोकर मैं पावन होकर प्रभु बनूंगा।'

देवलोक के देवत्व से दमकते आषाढ़ी मुनि की आत्मा को अपने पूर्व जन्म की स्मृति हुई, अपने अमर-सर्जन की स्मृति होते ही देव का आनन्द-सागर लहराया, चारों तरफ विलास-वैभव का सागर लहरा रहा था। तालबद्ध नर्तन पूर्णरूप से खिल रहा था। किन्तु नवोत्पन्न उस देव को उस में जरा भी रूचि नहीं थी। वह तो अपने अमर-सर्जन की स्मृति की सृष्टि में खो गया था। चामर झूल रहे थे। रत्नमय विमान में रहे झूम्मरों में हवा के झोंके से हलचल होती और उस में से सुमधुर संगीत सुनाई देता, किन्तु आषाढ़ी देव का आत्मपंछी तो इस स्वर्गलोक से विरक्त हो गया था। उस के पंख मानवलोक की सफर के लिए फड़फड़ा रहे थे और अमर-सर्जन की स्मृति तो और भी गहराती जा रही थी।

वह गीत थम गये, नृत्य थम गये और नवोत्पन्न देव ने मानव लोक की ओर अवतरण किया। पार्श्वनाथ प्रभु की उस प्रतिमा का दर्शन होते ही उस देव को देव-लोक और वहाँ के गीत-संगीत रसशून्य लगने लगे। बरसों बाद, प्रेमदीवाना प्रियतमा के मिलन से आनंद की जो अवाच्य स्थिति का आनंद ले रहा हो, ऐसी ही, नहीं बल्कि उस से भी ज्यादा आनंदमय स्थिति उस देव के अंगअंग से फूट रही थी। अपने उपकारकर्ता के चरणों में वह न्यौछावर हो गया और उस प्रतिमा को, अपने विमान की रत्नमय वेदी पर स्थापित कर के वह देव देवलोक की ओर प्रस्थान कर गया।

मानवलोक में जिस की पुण्यप्रतिष्ठा थी, उस प्रतिमा ने अब देवलोक में प्रतिष्ठा पाई। देव धन्य हो गये। उस सर्जन का मानो अमर हो जाने का भव्य भावि था।

आषाढ़ी देव द्वारा मानवलोक में से सबहुमान ग्रहण कर के वैमानिक देवलोक में स्थापित हुई श्री पार्श्वनाथ प्रभु की उस प्रतिमा की पूजा भक्ति में दिन-रात लीन रहनेवाले आषाढ़ी देव को अपना विराट आयुष्यकाल कब पूर्ण होने आया,

उसकी सुध भी न रही। च्यवन समय के दौरान भी उस देव ने पार्श्वप्रभु के पास यही प्रार्थना की कि-'आप के शासनकाल में मेरी मुक्ति होनेवाली है, तब तक हर जन्म में मुझे आप की भक्ति मिलती रहे। ऐसी भावना करते-करते उस देव का च्यवन हो जाने के बाद भी सौधर्मेन्द्र द्वारा प्रभु की पूजोपासना अविरत होती ही रही। उस प्रतिमा का ऐसा प्रभाव था कि समस्त देव देवीगण शाश्वत प्रतिमा की भांति ही उसकी पूजा सेवा करते थे।

अमर रहने के लिए बनी उस पार्श्वप्रतिमा की सूर्यविमान में 54 लाख वर्ष तक पूजा होती रही। उस के बाद चंद्रविमान में स्थापित उस प्रतिमाजी की पूजाभक्ति 54 लाख वर्ष तक चन्द्रेन्द्र के द्वारा होती रही। उसके बाद सौधर्म-ईशान-प्राणत और 12वें अच्युत नामक देवलोक में विराट कालावधि तक जो निरंतर पूजा-भक्ति पाती रही, ऐसी इस प्रतिमाजी को क्रमशः लवणोदधि, भवनपति देवों के भवन व्यंतर देवों के नगर, गंगा-यमुना जैसी महानदियाँ, वरुण देव, नागराज धरणेन्द्र इत्यादि पूजते रहे। एक ओर प्रभु की इस तरह पूजा होती रही, दूसरी ओर भरतक्षेत्र के नौवें दामोदर तीर्थंकर से 24 वें संप्रतिजिन तीर्थंकर तक की अतिविराट कालावधि समाप्त हो चुकी थी और भरतक्षेत्र की वर्तमान चौबीसी के पहले तीर्थंकर ऋषभदेव प्रभु का शासनकाल प्रारंभ हो गया था।

युगादिप्रभु की चरणसेवा कर रहे नमि-विनमि नामक विद्याधरों की भक्तिभावना से प्रसन्न हुए नागराज धरणेन्द्र द्वारा आषाढी श्रावक के अमर सर्जन रूप उस पार्श्वप्रतिमा नमि-विनमि को समर्पित करते ही उन्होंने वैताढ्य पर्वत पर उसका स्थापन किया। वहाँ दीर्घ काल तक विद्याधरों के द्वारा प्रभु का पूजन होता रहा। प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ प्रभुजी से आरंभ कर आठवें तीर्थंकर श्री चंद्रप्रभस्वामी तक के विराट कालावधि तक वैताढ्य पर्वत पर पूजा किये जानेवाले प्रभुजी की पुनः सौधर्मेन्द्र ने श्री चंद्रप्रभस्वामीजी की देशना के द्वारा यह जाना कि उनकी अपनी मुक्ति श्री पार्श्वप्रभु के शासन के दौरान होनेवाली है, तब उन्होंने भक्तिभावपूर्ण शैली से यह पार्श्वप्रतिमा सौधर्म देवलोक में स्थापित कर के 54 लाख वर्ष तक उसकी भक्ति की।

इसके बाद नागकुमार देव द्वारा गिरनार की सातवीं टूंक पर स्थापित कर उस पार्श्वप्रतिमा की पूजा का दीर्घ काल तक लाभ लिया गया। वर्तमान के सौधर्मेन्द्र का पूर्वभव जब कार्तिक सेठ के रूप में था तब उन्होंने इस प्रतिमाजी के प्रभाव से

श्रावक की 11 प्रतिमाओं की आराधना का भीष्म अनुष्ठान 100 बार किया था। समय के चलते श्री मुनिसुव्रतस्वामीजी का शासनकाल आरंभ हुआ, तब देवलोक में वर्षों से पूजित उस पार्श्वप्रतिमा को सौधर्मेन्द्र ने राम-सीता के वनवास के समय रथ में रखकर दो देवों के साथ दंडकारण्य में दर्शन-पूजन के लिए भेजने का अनुग्रह किया। उस के प्रभाव से वनवास निर्विघ्न पूर्ण हुआ, और उस प्रतिमा की पुनः सौधर्मेन्द्र द्वारा अपने विमान में प्रस्थापना की गई। गिरनार की सातवीं टूंक की भूमि अत्यंत पवित्र होने से कालक्रम पर सौधर्मेन्द्र ने उन पार्श्वप्रतिमा की गिरनार पर स्थापना की। गिरनार पर देवों से पूजित उस प्रतिमा की महिमा जानकर नागराज धरणेन्द्र ने अधोलोकवर्ती अपने भवन में आषाढी श्रावक द्वारा निर्मित उस प्रतिमा की सेवाभक्ति के लिए स्थापना की। उस के बाद उस समय का आरंभ हुआ, जब भरतक्षेत्र में नेमिकुमार का युवाकाल चल रहा था। उन के चचेरे वडिल बंधु कृष्ण वासुदेव थे, जब कि जरासंघ प्रतिवासुदेव थे। एक द्वारिकाधीश तो दूसरे मगधेश्वर थे।

प्रतिवासुदेव अपने पराक्रम से युद्धयात्रा में जगह-जगह विजय प्राप्त करते और नये-नये राज्यों का स्वामित्व प्राप्त करते रहते। बरसों तक युद्ध कर के प्रतिवासुदेव द्वारा पायी हुई राज्यश्री का उपयोग वासुदेव ज्यादा मेहनत किये बिना प्रतिवासुदेव को पराजित करके ले लेते हैं, ऐसी नियति नियत की गई होने से प्रतिवासुदेव जरासंघ वासुदेव कृष्ण के सामने युद्ध छेड़ने का कोई अवसर ही खोज रहे थे। कृष्ण के पक्ष में केवल 56 कोटि यादव ही थे। जबकि जरासंघ के पक्ष में भरतक्षेत्र के सभी राजवी और वैताढ्य पर्वत के विद्याधर थे, किन्तु वासुदेव के पक्ष में पुण्य की प्रबलता थी, कृष्ण का वासुदेव होने के कारण प्रतिवासुदेव का पराजित होना निश्चित ही था।

महाभारत के रक्तरंजित युद्ध का करुणांत आ गया था। वह युद्ध ऐसा भीषण और भयावह खेला गया था कि, अब नजदीक के समय में युद्ध जगने की कोई शक्यता नहीं थी। उस युद्धाग्नि में कौरवसेना के युद्धवीर खाक हो चुके थे, युद्ध में घायल हुए दुर्योधन को रणमैदान से भाग जाना पड़ा था। किन्तु पाँडवों में बलवान भीम ने उस का पीछा किया और गदायुद्ध करने के लिए मजबूर किया। तब दुर्योधन और भीम के बीच गदायुद्ध हुआ। उस में दुर्योधन का देहांत हुआ।

दुर्योधन के मित्र मगधेश्वर जरासंघ को तो कृष्ण के सामने लड़ने के लिए छोटा-बड़ा कोई कारण चाहिए था। उसने दुर्योधन की मृत्यु में कृष्ण को कारण कहकर बदला लेने के लिए कृष्ण के सामने शंखनाद किया। नेमिकुमार युद्ध की सलाह कैसे देते? और कृष्ण को तो युद्ध वैसे भी नहीं चाहिए था। किन्तु जब सामने से जरासंघ ने चुनौती दी तब राज्य की रक्षा के लिए जवाब देना आवश्यक था। इस लिए अतिविशाल विस्तारवाली द्वारका की ईशान दिशा में बहती सरस्वती के किनारे रहकर कृष्ण ने जरासंघ के सामने युद्ध लड़ने की घोषणा की। बाईसवें तीर्थंकर बननेवाले नेमिकुमार को कृष्ण का सहायक बनना योग्य लगने से वे औचित्य का पालन, जवाबदारी का खयाल और विवेकपूर्ण मार्गदर्शन आदि हेतु से सैन्य में जुड़े। इसका पता लगते ही इन्द्र ने अपने सारथी मातलि को दिव्य शस्त्र और रथ के साथ नेमिकुमार की सेवा में युद्ध में भेजा।

वासुदेव-प्रतिवासुदेव के बीच वह भीषण युद्ध सरस्वती के तट पर आरंभ हुआ। एक तरफ प्रबल पुण्यशाली कृष्ण थे। जरासंघ के पास प्रचंड पराक्रमी राजवीओं की फौज होने से कृष्ण को चुटकी में धूल चटाने की उसकी मुराद थी, उसने प्रचंड प्रमाण में तीरवर्षा शुरु की। केवल अर्जुन ही उस बाण को रोकने के लिए समर्थ थे और नेमिकुमार द्वारा हो रहे शंखनाद से भयभीत बनी प्रतिवासुदेव की सेना की मजबूरी का फायदा लेकर मातलि ने इन्द्र के दिये गए शस्त्रों की मार से युद्ध जीतने की बात की, तब नेमिकुमार ने तो बिना शस्त्र ही युद्ध जीतने का प्रस्ताव रखा और ऐसा प्रचंड शंखनाद किया कि, जैसे शत्रुसैन्य बधिर हो गया और भय से काँप उठा।

कृष्ण के पक्ष में भीम, अर्जुन, सहदेव, बलदेव आदि इस तरह जूझ रहे थे क्योंकि जरासंघ अन्याय का आश्रय ले कर भी युद्ध जीतने के लिए कृतनिश्चयी हो चुका था। वह जराविद्या का सिद्धिसाधक था। इस विद्या के प्रयोग से उसने कृष्ण के सैन्य को जराग्रस्त और निद्राधीन बना डाला। उस के बाद उस पर टूट पड़ने के जोश के साथ जरासंघ ने जराविद्या का मंत्रपाठ पूर्वक प्रयोग किया। दूसरे ही पल कृष्ण का खुमारी से युद्ध लड़नेवाला युवा सैन्य वृद्धावस्था से घिर गया और सो गया। सिर्फ तीन लोगों पर ही जरा की ताकत का असर नहीं हुआ था, नेमिकुमार, कृष्ण और तीसरे थे बलदेव। अपने अशक्त और जराजीर्ण बने सैन्य को देखकर

हताश हुए कृष्ण को हिम्मत देने के लिए नेमिकुमार ने कहा 'जरासंघ के द्वारा प्रयोग की हुई जराविद्या का यह परिणाम है। इसलिए जरा भी हताश होने की जरुरत नहीं। नागराज धरणेन्द्र के भवन में युगों प्राचीन आषाढ़ी श्रावक द्वारा निर्मित पार्श्वनाथ प्रभु की प्रतिमा इस वक्त पूजी जा रही है। धरणेन्द्र पद्मावती को प्रसन्न कर के वह प्रतिमा प्राप्त कीजिए, उनका स्नात्र-जल इस सैन्य पर छिड़किए, संपूर्ण सैन्य में युवाशक्ति पुनः उछलेगी।'

नेमिकुमार पर कृष्ण को पूरी श्रद्धा और विश्वास होने से तीन दिवस के उपवासपूर्वक धरणेन्द्र को प्रसन्न करने की साधना रणभूमि पर करने की उनकी पूर्ण तैयारी थी। किन्तु तीन दिन तक सैन्य की सुरक्षा की जवाबदारी का क्या? सैन्य तो वृद्धावस्था और कुंभकर्ण जैसी निद्रावस्था का भोग बनकर अपनी रक्षा करने की ताकत खो बैठा था। शत्रुसैन्य इस अवसर का गैरफायदा लेकर किसी भी प्रकार की क्रूरता करे, यह अशक्य नहीं था। ऐसे संभवित भय से कृष्ण को बचाकर साधना में तल्लीन बनाने के लिए आवश्यक आश्वासन देने के लिए इन्द्र के सारथी मातलि ने कहा-''मैं तीन दिन तक रणभूमि में सतत घूमता रहकर इस तरह तीर वर्षा करूँगा, कि शत्रुसैन्य को जरा भी खरोंच न आये। और फिर भी उनके मस्तक पर रहे मुकुट और हाथ में रहे छोटे बड़े सभी शस्त्र और रथ के पहियों का सर्वनाश हुए बिना न रहेगा। इस तरह अहिंसक पद्धति से यदुसैन्य के संरक्षण की पूर्ण जिम्मेदारी नेमिकुमार के प्रभाव से मैं सही रूप से अदा कर सकूंगा, ऐसा मुझे विश्वास है। इसलिए आप एकदम निश्चिंत होकर धरणेन्द्र-पद्मावती को प्रसन्न करने की साधना में मग्न हो सकते हैं।'' मातलि के ऐसे वचन सुनते ही कृष्ण साधना में मग्न हो गए। मातलि का रथ यदुसैन्य की सुरक्षा के लिए घूमता रहा, इस से जराग्रस्त बने यदुसैन्य पर टूट पड़ने की जरासंघ की मुराद मिट्टी में मिल गई। उस ने जोर तो बहुत मारा, किन्तु जराग्रस्त और गाढ़ निद्रा में सुप्त सैन्य का बाल भी बांका न कर सका। इसलिए हारे हुए जुआरी की तरह दुगना खेलने की तैयारी से जरासंघ, कृष्ण जब भी रणभूमि में आये तब अंतिम महाशस्त्र समान सुदर्शनचक्र छोड़कर कृष्ण के सौ साल पलभर में खत्म करने का दुःस्वप्न देखने लगा।

साधना के प्रभाव से तीसरे दिन प्रसन्न हुए धरणेन्द्र-पद्मावती के समक्ष जब पार्श्वप्रभु की प्रतिमा की याचना की, तब मन के विचारमात्र से कार्यसिद्धि करने की दैवी शक्ति के स्वामी उन्होंने आषाढी श्रावक के अमर सर्जन जैसी उस प्रभुपार्श्व की

पुरानी प्रतिमा वरदान के रूप में कृष्ण को समर्पित की। श्री नेमिकुमार के कथन अनुसार जराग्रस्त यदुसैन्य पर देवाधिष्ठित उस पार्श्व प्रतिमा के प्रक्षाल-जल का छिड़काव होते ही संपूर्ण सेना नवयौवन के उत्साह से अचानक जग गयी। और जरासंघ के साथ जूझने के लिए तैयार हो गयी।

जरा का जोर खत्म होते ही यदुसैन्य में यौवन का उत्साह संचरित होने के समाचार मिलते ही मगधेश्वर जरासंघ हाथ में सुदर्शनचक्र घुमाते कृष्ण के सामने खड़ा हो गया। नियति के निर्माण के अनुसार अपने चक्र का शिकार खुद जरासंघ ही होने वाला था, इसलिए प्रतिवासुदेव के हाथ से छूटा वह सुदर्शनचक्र वासुदेव कृष्ण के समक्ष आकर विनीत भाव से तीन प्रदक्षिणा कर के झँझावात के वेग से जरासंघ की ओर ही वापस धँस गया और उसका धड़ मस्तक अलग कर के वापस कृष्ण की सेवा में आकर आज्ञा माँगते हुए स्थिर हो गया। तब कृष्ण वासुदेव ने यदुसैन्य के विजय को दिगदिगंत में घोषित करता हुआ शंखनाद किया। जिससे आकाश और धरती कृष्ण के जयजयकार से गूँजित हो उठे।

वह शंखध्वनि आज से करीब करीब 87 हजार वर्ष पूर्व हुआ, फिर भी उस के प्रतिसाद अभी भी थमे नहीं है। क्योंकि शंखध्वनि की स्मृतिरूप बसाया वह नगर शंखेश्वर के नाम से आज विश्वप्रसिद्ध तीर्थ बना है। उस तीर्थ में विराजमान और धरणेन्द्र-पद्मावती की कृपा से प्राप्त पार्श्वनाथ प्रभुजी की वह प्रतिमा शंखेश्वर पार्श्वनाथ के रूप में 108 या 1008 नामों में सब से अधिक श्रद्धापात्र बनकर अनेक धामों-गाँवों में पूजी जाती है। प्रभाव तीर्थ, श्रद्धा तीर्थ, वांछित-पूरक तीर्थ या ऐसे कई नामों से शंखेश्वर पार्श्वनाथ प्रभु को संबोधित किया जा सकता है। आज भी इन प्रभुजी के प्रक्षाल के समय का दीदार और दरबार ठाठ और भक्ति के माहौल से इस तरह दर्शनीय बन जाता है कि प्रक्षाल का लाभ लेने के लिए हररोज हजारों-लाखों की बोलियाँ बोली जाती हैं। इतना ही नहीं, प्रक्षाल की उस पल के प्रत्यक्ष साक्षी बनने के लिए उत्सुक आँखों और मन से सभर भक्तों की भीड़ लगती है। प्रक्षाल-पूजा की क्षणों का ऐसा माहौल बहुत ही कम अन्य किसी गाँव, नगर या तीर्थों में देखने को मिलता है।

शंखेश्वर तीर्थ का प्रभाव या महिमा अतिप्राचीन प्रतिमाजी की वजह से ही नहीं है। अतिप्रभावशाली तीर्थ के तौर पर अभिषेक तो शंखेश्वर तीर्थ पर ही हो सकता है। इस तीर्थ की सर्वातिशायी महिमा प्रक्षाल की तरह दूसरी एक अद्वितीय

विशेषता के कारण भी है, वह है अट्ठम के तपस्विओं का महा मेला लगता है। किन्तु इन दिनों के अलावा भी प्रतिवर्ष भारी संख्या में अट्ठम तप और जप इस तीर्थ में होते ही रहते हैं। तपजप की प्रचंड शक्ति और प्रभाव से प्रभावित इस तीर्थ में ऐसी तो एक आकर्षण शक्ति व्याप्त है, जो भक्तों को दूर-दूर से बार-बार अज्ञात रूप से खींचती रहती है। जो भी यहाँ एक बार आता है, वह परमात्मा के प्रभाव को स्वयं अनुभव करता है।

मथुरा का देव निर्मित स्तूप एवं प्रतिमाजी

मथुरा के देव निर्मित स्तूप के छेद-सूत्रों तथा अन्य सूत्रों के भाष्य, चूर्णि आदि में उल्लेख मिलते हैं। इसकी उत्पत्ति का निम्नलिखित इतिहास वर्णित है। 'मथुरा नगरी के बाहर वन में एक क्षपक (तपस्वी जैन साधु) तपस्या कर रहा था, उसकी तपस्या और संतोषवृत्ति से वहाँ की वन देवी तपस्वी साधु की तरफ भक्ति विनम्र हो गई थी। प्रतिदिन वह साधु को वन्दना करती और कहती ''मेरे योग्य कार्य-सेवा फरमाना''। क्षपक कहता ''मुझे तुम जैसी अविरत देवी से कुछ कार्य नहीं।'' देवी जब भी क्षपक को कार्य सेवा के लिये वही वाक्य दोहराती तो क्षपक भी अपनी तरफ से वही उत्तर दिया करता था। एक समय देवी के मन में आया, तपस्वी बार-बार मुझे कोई कार्य न होने का कहा करते हैं, तो अब ऐसा कोई उपाय करूँ ताकि ये मेरी सहायता पाने के इच्छुक बने। उसने कौतुहलवश मथुरा के निकट एक बड़े विशाल चौक में रात भर में एक बड़ा स्तूप खड़ा कर दिया। दूसरे दिन उस स्तूप को जैन तथा बौद्ध धर्म के अनुयायी अपना-अपना मानकर उसका कब्जा करने के लिये तत्पर हुए। जैन, स्तूप को अपना बताते थे, तो बौद्ध उसे अपना स्तूप बताते थे। स्तूप में लेख अथवा किसी सम्प्रदाय की देव मूर्ति न होने के कारण, उसने जैन बौद्धों के बीच झगड़ा खड़ा कर दिया। परिणाम स्वरूप दोनों सम्प्रदायों के नेता न्याय के लिये राजा के पास पहुँचे और स्तूप का अधिकार दिलाने की प्रार्थनाएँ की। राजा तथा उसका न्याय विभाग, स्तूप जैनों का है अथवा बौद्धों का, इसका निर्णय नहीं दे सके।

जैन संघ ने अपने स्थान में मिलकर विचार किया कि यह स्तूप दिव्य शक्ति से बना है और देव सहायता से ही किसी सम्प्रदाय का कायम हो सकेगा। संघ में देव सहायता किस प्रकार प्राप्त की जाये, इस बात पर विचार करते समय जानने वालों ने कहा, वन में अमुक क्षपक मुनि के पास वन देवी आया करती है, अतः क्षपक द्वारा उस देवी से स्तूप प्राप्ति का उपाय पूछना चाहिये। संघ में सर्वसम्मति से यह निर्णय हुआ कि दो साधुओं को क्षपक मुनि के पास भेजकर उनसे वन देवी की इस विषय में सहायता मांगी जाये।

प्रस्ताव के अनुसार श्रमण युगल क्षपक मुनि के पास गए और क्षपकजी को संघ के प्रस्ताव से अवगत कराया। क्षपक ने भी यथाशक्ति संघ का कार्य सम्पन्न

શ્રી સુપાર્શ્વનાથ સ્વામી
જય પામો

करने का आश्वासन देकर, आए हुए मुनियों को विदा किया।

नित्य नियमानुसार वन देवी क्षपक के पास आई और वन्दन पूर्वक कार्य सेवा सम्बन्धी नित्य की प्रार्थना दोहराई। क्षपक ने कहा ''एक कार्य के लिये तुम्हारी सलाह आवश्यक है।'' देवी ने कहा–''वह कार्य क्या है?'' क्षपक बोले–''कुछ समय से मथुरा में देव निर्मित स्तूप के सम्बन्ध में जैन बौद्धों के बीच झगड़ा चल रहा है, राजा का न्यायाधिकरण भी परेशान हो रहा है, पर इसका निर्णय नहीं हो सका है, मैं चाहता हूँ, तुम कोई ऐसा उपाय बताओ और सहायता करो कि यह स्तूप सम्बन्धी–झगड़ा तुरन्त मिटे।''

वन देवी ने कहा–''तपस्वीजी महाराज, आज मेरी सेवा की आवश्यकता हुई न!'' तपस्वी बोले–''अवश्य, यह कार्य तो तुम्हारी सहानुभूति से ही सिद्ध हो सकेगा। जिसकी जैसी शक्ति होती है, उसी अनुसार उससे कार्यसिद्धि होती है।''

देवी ने कहा–'आप अपने संघ को सूचित करें कि वह अब दोबारा राजसभा में यह प्रस्ताव उपस्थित करें – यदि स्तूप पर स्वयं श्वेत ध्वज फरकने लगे तो स्तूप जैनों का समझा जाए और लाल ध्वज फरकने पर बौद्धों का।'

क्षपक मुनि ने मथुरा जैन संघ के नेताओं को अपने पास बुलाया और वन देवी द्वारा कथित प्रस्ताव की सूचना की। संघनायकों ने न्यायाधिकरण के सामने वैसा ही प्रस्ताव उपस्थित किया। राजा तथा न्यायाधिकारियों को प्रस्ताव पसन्द आया और बौद्ध नेताओं से इस विषय में पूछा। बौद्धों ने भी प्रस्ताव को मंजूर किया।

राजा ने स्तूप के चारों ओर रक्षक नियुक्त कर दिये, कोई भी व्यक्ति स्तूप के निकट तक न जाए, इसका पूरा–पूरा बन्दोबस्त किया। इस व्यवस्था और प्रस्ताव से नगर भर में एक प्रकार का कौतुकमय अद्‌भुत रस फैल गया। दोनों सम्प्रदाय के भक्त–जन अपने–अपने इष्ट देवों का स्मरण कर रहे थे, सब्रनिरपेक्ष नगर जन कब रात बीते और स्तूप पर फहराती हुई ध्वजा देखें, इस चिन्ता से सहस्त्रांशु सूर्य से जल्दी उदित होने की प्रार्थनायें कर रहे थे।

सूर्योदय होने के पूर्व ही मथुरा के नागरिक हजारों की संख्या में स्तूप के इर्द–गिर्द स्तूप की ध्वजा देखने के लिये, एकत्रित हो गये, सूर्य के पहले ही उसके सारथी ने स्तूप के शिखर पर दण्ड तथा ध्वज पर प्रकाश फैंका, जनता को अरूण प्रकाश में सफेद वस्त्र सा दिखाई दिया, जैन जनता के हृदय में आशा की तरंगें बहने

लगीं। इसके विपरीत बौद्ध-धर्मियों के दिल निराशा का अनुभव करने लगे, सूर्य देव ने उदयाचल के शिखर से अपने किरण फैलाकर सबको निश्चय करा दिया कि स्तूप के शिखर पर श्वेत ध्वजा फरक रही है, जैन धर्मियों के मुखों से एक साथ 'जैनम् जयति शासनम्' की ध्वनि निकल पड़ी और मथुरा के देव निर्मित स्तूप का स्वामित्व जैन संघ के हाथों में सौंप दिया गया।

मथुरा स्थित देव निर्मित स्तूप की उत्पत्ति का उक्त इतिहास हमने सूत्रों के भाष्यों, चूर्णियों और टीकाओं में भिन्न-भिन्न वर्णनों को व्यवस्थित करके लिखा है। आचार्य जिनप्रभसूरि कृत विविध तीर्थ कल्प ग्रंथ के अन्तर्गत मथुरा कल्प में पौराणिक ढंग से इस स्तूप का विशेष वर्णन दिया है, जिसका संक्षिप्त सार पाठकगण के अवलोकनार्थ नीचे दिया जाता है-

'सातवे श्री सुपार्श्वनाथ परमात्मा के तीर्थवर्ती धर्मघोष और धर्मरूचि नामक दो तपस्वी मुनि एक समय विहार करते हुए मथुरा पहुँचे। उस समय मथुरा की लम्बाई बारह योजन तथा विस्तार नव योजन परिमित था। उसके चारों तरफ दुर्ग (किला) बना हुआ था और पास में दुर्ग को नहलाती हुई यमुना नदी बह रही थी, मथुरा के भीतर तथा बाहर अनेक कूप बावड़ियाँ बनी हुई थीं। नगरी गृह पंक्तियों, हाट बाजारों और देव मंदिरों से सुशोभित थी, इसकी बाह्य-भाग-भूमि अनेक वनों, उद्यानों से घिरी हुई थी। तपस्वी मुनि धर्मघोष, मुनि धर्मरूचि युगल ने मथुरा के 'भूत रमण' नामक उद्यान में चातुर्मासिक तप के साथ वर्षा चातुर्मासिक स्थिरता की, मुनियों के तप-ध्यान शान्ति आदि गुणों से आकर्षित होकर उपवन की अधिष्ठात्री 'कुबेरा' नामक देवी उनके पास रात्रि के समय जाकर कहने लगी -'मैं आपके गुणों से बहुत ही सन्तुष्ट हूँ, मुझ से वरदान मांगिये।' मुनियों ने कहा -'हम निस्संग श्रमण हैं, हमें किसी भी पदार्थ की इच्छा नहीं।' यह कहकर उन्होंने 'कुबेरा' को धर्म का उपदेश देकर जैन धर्म पर श्रद्धा कराई।

चातुर्मास की समाप्ति के आसपास कार्तिक सुदि अष्टमी को तपस्वियों ने अपने निवास स्थान की स्वामिनी जानकर कुबेरा को कहा-'हे श्राविका ! चातुर्मास पूरा होने आया है, हम यहाँ से चातुर्मास की समाप्ति होते ही विहार करेंगे, तुम जिनदेव की पूजा भक्ति तथा जैन धर्म की उन्नति में सहयोग देते रहना। देवी ने तपस्वियों को वहीं ठहरने की प्रार्थना की परन्तु साधु का एक स्थान पर ठहरना आचार विरुद्ध बताकर उसकी प्रार्थना को विनयपूर्वक अस्वीकृत कर

दिया। कुबेरा ने कहा यदि आपका यही निश्चय है, तो मेरे योग्य धर्म कार्य का आदेश फरमाइये, साधुओं ने कहा-यदि तेरा आग्रह है, तो हमें संघ के साथ मेरू पर्वत पर ले जाकर जिन चैत्यों का वन्दन करा दे, देवी ने कहा आप दोनों को मैं वहाँ ले जा सकती हूँ। मथुरा का संघ साथ में होगा तो मुझे भय है कि मिथ्यादृष्टि देव मेरे गमन में विघ्न करेंगे। साधु बोले-यदि संघ को वहाँ ले जाने की तेरी शक्ति नहीं है तो हम दोनों को वहाँ अकेले जाना उचित नहीं है। हम शास्त्र बल से ही मेरु स्थित जिन चैत्यों का दर्शन वंदन करेंगे। तपस्वियों के इस उक्त कथन को सुनकर लज्जित होकर कुबेरा बोली, भगवन् यदि ऐसा है तो मैं स्वयं जिन प्रतिमाओं से शोभित मेरू-पर्वत का आकार यहाँ बना देती हूँ, वहाँ पर संघ के साथ आप देव-वन्दन कर लें। साधुओं ने देवी की बात को स्वीकार किया, तब देवों ने सुवर्णमय नाना रत्न शोभित, तोरण ध्वज मालाओं से अलंकृत, जिसका शिखर छत्र-त्रय से सुशोभित है, ऐसा रात भर में स्तूप निर्माण किया जो मेरू पर्वत की तरह तीन मेखलाओं से सुशोभित था, प्रत्येक मेखला में प्रतिदिग् सम्मुख पंच वर्ण रत्नमय प्रतिमाएँ सुशोभित थीं एवं मूलनायक के रूप में भगवान् सुपार्श्वनाथ का बिंब प्रतिष्ठित था।

प्रभात होते ही लोग स्तूप के पास एकत्र हुए और आपस में विवाद करने लगे। कोई कहते थे वासुकि नाग लंछन वाला स्वयंभू देव है, तब दूसरे कहते थे, शेषशायी भगवान नारायण हैं, इसी प्रकार कोई ब्रह्मा, कोई धरणेन्द्र (नागराज), कोई सूर्य, तो कोई चन्द्रमा कहकर अपनी जानकारी बता रहे थे। बौद्ध कहते थे यह स्तूप नहीं किन्तु 'बुद्धाण्डक' है, इस विवाद को सुनकर मध्यस्थ पुरुष कहते थे वह दिव्य शक्ति से बना है, और दिव्य शक्ति से ही इसका निर्णय होगा, तुम आपस में क्यों लड़ते हो ? अपने-अपने इष्टदेव को वस्त्र पटपर चित्रित करवा कर निज-निज मंडली के साथ ठहरो, जिसका स्तूप स्थित देव होगा उसी का चित्र पट रहेगा, शेष व्यक्तियों के पट्ट स्थित देव भाग जायेंगे। जैन संघ ने भी सुपार्श्वनाथ का चित्रपट बनवाया, बाद में अपनी मण्डलियों के साथ चित्रित चित्रपटों की पूजा करके सब धार्मिक संप्रदाय वाले उनकी भक्ति करते। अपने-अपने पट सामने रखकर नवम दिन की रात्रि का समय था, सभी संप्रदायों के भक्तजन अपने-अपने ध्येय देव के गुणगान कर रहे थे। बराबर अर्ध रात्रि व्यतीत हुई तब प्रचण्ड पवन प्रारंभ हुआ, पवन से तृण रेती उड़े इसमें तो बड़ी बात नहीं थी, परंतु उसकी प्रचण्डता यहाँ तक

बढ़ चली कि उसमें पत्थर तक उड़ने लगे, तब लोगों का धैर्य टूटा। वे प्राण बचाने की चिन्ता से वहाँ से भागे, लोगों ने अपने-अपने सामने जो देव-पूजा पट्ट रखे थे वे लगभग सबके सब प्रचण्ड पवन में विलीन हो गये, केवल श्री सुपार्श्वनाथजी का एक पट वहाँ रह गया। हवा का बवंडर शांत हुआ लोग फिर एकत्रित हुए और सुपार्श्वनाथ का पट देखकर बोले ये अरिहंत देव हैं और यह स्तूप भी इसी देव की मूर्तियों से अलंकृत है। लोग उस पट को लेकर सारे मथुरा नगर में घूमे और तब से 'पट्ट यात्रा' प्रवृत्त हुई।

इस प्रकार धर्मघोष तथा धर्मरूचि मुनि मेरु पर्वताकार देव निर्मित स्तूप में देव वन्दन कर तथा तीर्थ प्रकाश में लाकर, जैन संघ को आनन्दित कर मथुरा से विहार कर गए और क्रमशः कर्मक्षय कर संसार से मुक्त हुए। 'कुबेरा देवी उस स्तूप की तब तक रक्षा करती रही। तत्पश्चात् वर्षों के अन्तराल में तेइसवें श्री पार्श्वनाथजी का शासन प्रचलित हुआ'।

एक समय भगवान् पार्श्वनाथ विहार क्रमसे मथुरा पधारे और धर्मोपदेश करते हुए भावी दुषमा काल के भावों का निरूपण किया। पार्श्वनाथजी के वहाँ से विहार करने के बाद कुबेरा ने संघ को बुलाकर कहा, भविष्य में समय कनिष्ट आने वाला है, कालानुभव से राजादि शासक लोग लोभग्रस्त बनेंगे और इस सुवर्णमय स्तूप को नुकसान पहुँचायेंगे, अतः स्तूप को ईंटों के पर्दे से ढाँक दिया जाए, भीतर की मूर्तियों की पूजा मैं अथवा मेरे बाद जो नयी कुबेरा उत्पन्न होगी वह करेगी। संघ इष्टिकामय स्तूप में भगवान् पार्श्वनाथ की प्रस्तरमय (पत्थर की) मूर्ति प्रतिष्ठित करके पूजा किया करें। देवी की बात भविष्य में लाभदायक जानकर संघ ने मान्य की और देवी के विचारित योजनानुसार मूल स्तूप को ईंटों के स्तूप से ढांक दिया।'

इष्टिकामय स्तूप पुराना हो जाने से उसमें से ईंटे निकलने लगीं थी, इसलिए संघ ने पुराने स्तूप को हटाकर नया पाषाणमय स्तूप बनवाने का निर्णय किया, परन्तु कुबेरा ने स्वप्न में कहा-'इष्टिकामय स्तूप को अपने स्थान से न हटाइये इसको मजबूत करना हो तो ऊपर पत्थर का खोल चढ़वा दो, संघ ने वैसा ही किया आज भी देव निर्मित स्तूप को अदृश्य रूप से देव पूजते हैं तथा इसकी रक्षा करते हैं, हजारों प्रतिमाओं से युक्त देवलां, रहने के स्थानों, सुन्दर गन्ध कुटी, तथा चेलनिका अंबा अनेक क्षेत्रपाल आदि से यह स्तूप सुशोभित है।

'कालक्रम से आचार्य बप्पभट्टिसूरि ने जो कि ग्वालियर के राजा आम के धर्म

गुरु थे, मथुरा में वि. सं. 826 में भगवान महावीर का बिंब प्रतिष्ठित किया।'

मथुरा के देव निर्मित स्तूप की उत्पत्ति का निरूपण शास्त्रीय प्रतीकों तथा मथुरा कल्प के आधार से ऊपर दिया गया है, कल्पोक्त वर्णन अतिशयोक्ति पूर्ण हो सकता है, परन्तु एक बात तो निश्चित है कि यह स्तूप अति प्राचीन है और भारत में विदेशियों के आने के समय यह स्तूप जैनों का एक महिमास्पद तीर्थ बना हुआ था, वर्ष के अमुक समय में यहाँ स्नान महोत्सव होता था। और उस प्रसंग पर भारतवर्ष के कोने-कोने से तीर्थ यात्रिक यहाँ एकत्र होते थे, ऐसा प्राचीन साहित्य के उल्लेखों से सिद्ध होता है। इस बात के समर्थन में निशीथभाष्य की एक गाथा तथा उसकी चूर्णि का उद्धरण नीचे देते हैं-

'थूभ मह सड्ढि समणी बोहिय हरणंच निवसुयातावे।

मग्गेणय अक्कंदे कयंमि युद्धेण मोएत्ति।।

अर्थात् - 'मथुरा के स्तूप महोत्सव पर जैन श्राविकाएं तथा जैन साध्वीयाँ जा रहीं थी। मार्ग में बोधिक लोग उन्हें घेर कर अपने साथ ले चले, आगे जाते मार्ग के निकट आतापना करते हुए, एक राजपुत्र प्रव्रजित जैन मुनि को देखा। उन्हें देखते ही यात्रार्थीयों ने आक्रन्दन (शोर) किया, जिसे सुनकर मुनि उनकी तरफ आये, और बोधिकों से युद्ध कर श्राविकाओं को उनके पंजे से छुड़ाया।'

मथुरा का देव निर्मित स्तूप आज भी मथुरा के कंकाली टीले के रूप में भग्न अवस्था में खड़ा है, इसमें से मिली हुई कुषाण कालीन जैन मूर्तियाँ, आयाग पट्ट पर जैन साधुओं की मूर्तियों आदि ऐतिहासिक साधन आज भी मथुरा तथा लखनऊ के सरकारी संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। इन पर राजा कनिष्क, हूविष्क, वासुदेव के राज्य काल के लेख भी उत्कीर्ण हैं, इससे ज्ञात होता है कि यह तीर्थ विक्रम की दूसरी शताब्दी तक उक्त दशा में था। उत्तर भारत में विदेशियों के आक्रमणों से खास कर श्वेत हूणों के समय में जैन-श्रमण तथा जैन-गृहस्थ सामूहिक रूप से दक्षिण भारत की तरफ राजस्थान, मेवाड़, मालवा आदि में चले गये, और उत्तर भारत के अन्य जैन तीर्थ रक्षण के अभाव से वीरान हो गए, जिनमें मथुरा का देव निर्मित स्तूप भी एक है।

जीवन्त स्वामी की प्रतिमाजी

भगवान महावीर के समकालीन सिन्धु–सौवीर जनपद का राजा उदायन[1] था इसकी राजधानी वीतभयपत्तन थी। यह शब्द तीन शब्दों के मेल से निष्पन्न हुआ है। वीत+भय+पत्तन। वीत का अर्थ है 'दूर हो गया है', भय का अर्थ है 'डर' और पत्तन का अर्थ है 'नदी तटवर्ती नगर'। मतलब यह है कि सिन्धु–सौवीर जनपद की राजधानी वीतभयपत्तन [2](सिन्धु) नदी के तट पर आबाद एक ऐसा महान नगर था जहाँ का राजा धर्मपरायण, प्रजावत्सल और महान शूरवीर था। इसकी शूरवीरता के कारण शत्रु राजा इस देश पर आक्रमण करने का साहस भी नहीं करते थे। राजा के धार्मिक और प्रजावत्सल होने के कारण प्रजा का उत्पीड़न भी नहीं होता था। प्रजा को न तो स्वचक्र का और परचक्र का भय था और न ही राजा द्वारा शोषित और पीड़ित होने का डर था। अतः सारे राज्य की प्रजा सर्वथा निर्भय होकर सुख और शांति से निवास करती थी। यही कारण था कि इसका नाम वीतभयपत्तन[3] सार्थक था। 'यथा राजा तथा प्रजा' की उक्ति को सत्य सिद्ध करने के लिए यहाँ की प्रजा भी धार्मिक–पवित्र विचारों तथा निर्दोष आचरण वाली थी। उस समय यहाँ का मुख्य धर्म जैनधर्म था।

इस राजधानी के आधीन 363 नगर 6850 ग्राम, अनेक खानें और सोलह देश थे। महाराजा उदायन की सेवा में महासेन (चंडप्रद्योत) आदि 10 महाप्राक्रमी मुकुटधारी राजा थे। वीतभयपत्तन व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र था। इस नगर का विस्तार कई मीलों में था।

---

1. जैनागम पंचमांग भगवती सूत्र शतक 13 उद्देशा 6।
2. 1) पत्तन, 2) नगर, 3) पुर, 4) क्षेत्र, इन चार शब्दों का प्रयोग इस प्रकार है– (1) **पत्तन** – नदी अथवा समुद्री तट पर अवस्थित शहर को पत्तन कहा जाता था। बंदरगाहों के लिए विशेष रूप से प्रयुक्त होता था। पत्तन शब्द के लिए चाणक्य लिखता है कि **'चारिस्थल पथ पत्तनानि निदेशयत**' (अध्यक्ष प्रचार द्वितीय अधिकरण) (2) **नगर** – शहरी शब्द का द्योतक है। (3) **पुर** – किसी व्यक्ति के नाम से बसाये गये नगर के पीछे जोड़ दिया जाता था। जैसे जोधाजी द्वारा बसाया गया जोधपुर, उदयसिंह से उदयपुर इत्यादि। (4) **क्षेत्र** – इस शब्द का अपभ्रंश खेत शब्द है। अन्नोत्पादक भूमि, उत्पत्तिस्थान, प्रदेश, तथा तीर्थस्थान के लिए क्षेत्र शब्द का प्रयोग हुआ है। क्षेत्र भूखण्ड विशेष की निर्धारित सीमा के लिए भी आता है। क्षेत्र के अन्तर्गत नगर पुर, पत्तन ग्राम आदि सब आ जाते हैं।
3. से णं उदायणे राजा सिंधु–सौवीर प्पमोखाणं सोलसण्हं जणवयाणं वीतीभयपमोक्खाणं तिण्हं तेसट्ठीणं नगरागार–सयाणं महसेणप्पमोकखाणं दसहणं राइणं बद्ध मउडाणं (भगवती सूत्र शतक 13 उ. 6) ऐसा ही उल्लेख उत्तराध्ययन (नेमिचन्द्राचार्य की टीका सहित) पत्र 251/1 में भी है।

उदायन की पटरानी का नाम प्रभावती था। यह गणतंत्रनायक महाराजा चेटक की सबसे बड़ी पुत्री थी।[4] चेटक भगवान महावीर के मामा[5] तथा रानी त्रिशला (महावीर की माता) के सगे भाई थे। उदायन के प्रभावती से अभिची नाम का एक पुत्र था। उदायन की बहन का एक पुत्र (भानजा) था, उस का नाम केशी था। प्रभावती रानी जैनश्राविका थी पर उदायन तापसों का भक्त था।[6] उदायन का परिवार तो इससे कई बड़ा था, परन्तु यहाँ पर इन्हीं के विषय में विवरण आवश्यक होने से मात्र इन्हीं के नामों का उल्लेखन पर्याप्त है।

महारानी प्रभावती के महल में गोशीर्षचंदन काष्ट की महावीरस्वामी की एक अत्यन्त सुन्दर और महाचमत्कारी प्रभावित प्रतिमा विद्युन्मालीदेव द्वारा निर्मित तथा कपिल केवली द्वारा प्रतिष्ठित थी। इस प्रतिमा पर कुंडल, मुकुट, गले में लटकते हार, बाजुबन्द आदि अनेक प्रकार के अलंकार अंकित थे। गले में देव द्वारा प्रदत्त फूलों की माला थी जो कभी कुम्हलाती नहीं थी और जिस की सुगंध से दसों दिशाएं महक उठती थीं। इस की महक से आकर्षित भंवरे इस पर सदा मंडराते थे। वह प्रतिमा भगवान् महावीर की गृहस्थावस्था की कायोत्सर्ग मुद्रा में थी। प्रभावती ने इसे अपने महल में घर चैत्यालय का निर्माण कराकर मूलनायक रूप में विराजमान किया हुआ था।[7] जैनागमों में ऐसी प्रतिमा को जीवितस्वामी की प्रतिमा कहा है।[8]

महारानी प्रभावती इस प्रतिमा की त्रिकाल (प्रातः मध्याह्न, सायं) पूजा, वंदना, आरती आदि किया करती थी।[9] इस मंदिर की व्यवस्था और पूजा के लिये महारानी ने स्वर्णगुलिका नाम की एक दासी भी रखी हुई थी जो युवा और अत्यन्त रूपवती थी। राजा उदायन भी प्रभावती की प्रेरणा से इस मंदिर में दर्शनादि करने कभी-कभी आया करता था।

रानी प्रभावती ने जैनाचार्य से प्रतिबोध प्राप्त कर जैन साध्वी की दीक्षा ग्रहण

---

4. अ) तस्य प्रभावती राज्ञी जज्ञे चेटकराट् सुता। विभ्र नरे जैन-
   आ) उदायणस्स रण्णो महादेवी चेडगरायधूया समणावासिया पभावई। (उत्तराध्ययन सूत्र नेमिचंद्र टीका पत्र 253/1)
   इ) प्रभावतीदेवी समणोवासिया। (आवश्यक चूर्णि पूर्वार्द्ध पत्र 399)
5. उत्तराध्ययन सूत्र भावविजय की टीका अध्ययन 18 श्लोक 6।
6. उदायण राजा तावस भत्तो (आवश्यक चूर्णि पत्र 399)
7. उत्तराध्ययन सूत्र भावविजय टीका अध्याय 18 श्लोक 84 पत्र 183/1
8. कल्पसूत्र
9. उत्तराध्ययन सूत्र भ. अ. 18 श्लोक 25।

की और साध्वी मंडल के साथ स्व पर आत्मकल्याण के लिये अपना जीवन निर्यापन करते हुए इसी जनपद में विचरने लगी। अब दासी स्वर्णगुलिका भी जीवितस्वामी प्रतिमा की महारानी के समान ही त्रिकाल वेला श्रद्धा और भक्ति से पूजा वन्दना करने लगी। एकदा उज्जयिनी का राजा चंडप्रद्योत दासी और इस प्रतिमा का अपहरण करके उज्जयिनी ले गया। इस प्रतिमा के बदले वैसे ही चंदन और हूबहू वैसी ही आकृति की मूर्ति बनाकर रातोंरात यहाँ विराजमान कर गया। प्रातःकाल जब उदायन मंदिर में गया तो उसने देखा कि प्रतिमा के गले में जो फूलों की माला है, वह कुम्हलाई हुई है उसे लगा कि वह असली प्रतिमा नहीं है, उसके बदले में कोई दूसरी ही है। वहाँ दासी भी नहीं थी। संदेह हुआ कि दासी समेत प्रतिमा का कोई अपहरण करके ले गया है। खोज करने पर ज्ञात हुआ कि उज्जयिनी का राजा चंडप्रद्योत प्रतिमा और दासी का अपहरण करके ले गया है। उदायन ने उज्जयिनी में युद्ध करके चंडप्रद्योत को हराया और उसे बन्दी बनाकर अपने साथ लेकर वापिस लौटा। उसके माथे पर दासीपति की छाप लगाई, किन्तु प्रतिमा और दासी उज्जयिनी से वापिस नहीं लाये। देवता के कहने से वहीं रहने दी।

उदायन की रानी प्रभावती साध्वी की दीक्षा लेने के बाद आयु पूरी करके देवता हुई। इस देवता की प्रेरणा से राजा उदायन दृढ़ जैनधर्मी बना।

उस जीवन्त प्रतिमाजी की बात कलिकाल सर्वज्ञ हेमचंद्राचार्यजी के मुख से परमार्हत् कुमारपाल महाराजा ने सुनी और उन्होंने गुरुदेव के निर्देशानुसार उस प्रतिमा के लिए तलाश चालू की और चमत्कार हुआ।

1500 वर्ष तक भूगर्भ में पड़ी हुई वह प्रतिमा प्रभु भक्ति और गुरुकृपा से कुमारपाल महाराज को प्राप्त हुई।

उन्होंने पाटण में भव्य जिनालय बनाकर उसकी प्रतिष्ठा की और नित्य भक्ति करने लगा। कमनसीबी से आज वह प्रतिमा वहाँ भी मौजूद नहीं है।

परंतु भाग्योदय से आज भी क्षत्रियकुण्ड, बामणवाड़ा, नांदिया, दियाणाजी आदि में जीवन्त स्वामी की अन्य प्रतिमाएं विराजमान हैं, जिनके दर्शन-पूजन का लाभ ले सकते हैं।

''जिन प्रतिमा=जिन'' इस न्याय से सभी प्रतिमाएँ साक्षात् भगवान् तुल्य हैं, अतः चलो ! हम भी अपने-अपने गाँव-शहर के जिनालय में नित्य प्रतिदिन परमात्मभक्ति द्वारा जीवन सफल बनायें और तीर्थयात्राएं करके धन्यातिधन्य बन जाएँ।

गुरु गौतमस्वामीजी ने भी की तीर्थयात्रा!!

एक दिन प्रभुवीर की देशना अस्खलित गति से चल रही थी। उसी के मध्य में प्रभु कह रहे थे। जो मुनि अष्टापद पर्वत पर चढ़कर चौबीस जिन प्रतिमाओं को वन्दन करता है, वह आत्मा की अपूर्व लब्धि को प्राप्त करता है, चरम शरीरी होता है। आदि।

जो अष्टापद सेल, वन्दे चड़ी चउवीस जिण।
आतम लब्धि वसेण, चरम सरीरी सोय मुनि।।

इस प्रकार की भगवान की देशना की बात कहीं और से विहार करके आरहे गौतमस्वामीजी ने देवों के मुख से सुनी और एक दिन अपने संतोष के लिये भगवान की आज्ञा लेकर अष्टापद पर्वत की तरफ चल पड़े। उस समय अष्टापद पर्वत पर कई वर्षों से 1500 तापस तपस्या-साधना कर रहे थे। वे सभी भरत महाराजा द्वारा प्रतिष्ठापित, देह प्रमाण, चौबीस जिन बिंबो के दर्शनार्थ, कठिन तपस्या कर रहे थे। उन्होंने दूर से आते हुए गौतमस्वामीजी को देखा तो समझ गए कि यह भी हमारी तरह जिन बिंबों के दर्शनार्थ आया होगा। गौतमस्वामीजी की सुललित सुमनोहर देह के सौष्ठव को देखकर वे सभी परस्पर कानाफूसी करने लगे-

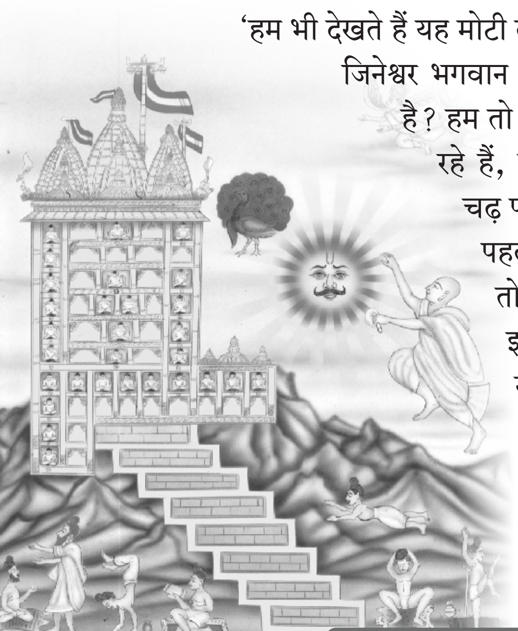

'हम भी देखते हैं यह मोटी ताजी देहवाला कैसे ऊपर चढ़ता है? कैसे जिनेश्वर भगवान की प्रतिमाओं के दर्शन वन्दनादि करता है? हम तो इतने वर्षों से ऊपर चढ़ने का अभ्यास कर रहे हैं, परन्तु कोई अभी तीन पगथिया (सीढ़ी) चढ़ पाये हैं, कोई दो सीढ़ी तक चढ़े हैं तो कोई पहली सीढ़ी पर ही बैठे हैं। यहाँ तक कि कई तो अभी तलहटी पर ही साधना कर रहे हैं। इससे ऊपर चढ़ने में असमर्थ। हम सब साधना द्वारा शक्ति व सिद्धि प्राप्त करने का अभ्यास कर रहे हैं। यह सौम्य आकृति वाला साधु के वेश में हृष्ट-पुष्ट शरीरवाला तो हंसी का पात्र ही बनेगा। कहाँ तो हमने अपने शरीरों को तप द्वारा

सुखा-सुखा कर हड्डियों का ढांचा सा बना लिया है। कितने ही प्रकार के प्राणायाम आदि योगासनों से शरीर को हल्का बनाने का अभ्यास कर रहे हैं, ताकि शीघ्र उपर चढ़ सकें। यह तो हाथी जैसी स्थूल देह वाला है। कैसे यह ऊपर तक पहुँचेगा? जब हमारे जैसे सिद्ध पुरुष नहीं चढ़ पाए तो यह तो चढ़ ही नहीं पाएगा'।

अभिमान पूर्वक इस प्रकार के, जब वे विचार कर रहे थे तब तक तो गौतम गणधर उनके एकदम समीप आ चुके थे। उन्होंने उन सब तापसों की स्थिति देखी-समझी, और फिर मन ही मन कुछ संकल्प पूर्वक कुछ पल खड़े रहे। फिर सभी तापसों के देखते ही देखते सूर्य की किरणों का आलम्बन लेकर वेगपूर्वक अष्टापद पर्वत पर पहुँच गए। वहाँ पर परमात्मा की प्रतिमाओं का दर्शन करके नयन पावन किए, वन्दन करके देह रोमांचित-पुलकित हो गई। स्व-स्व काय प्रमाण चारों दिशाओं में चौबीस जिनेश्वरों के दर्शन उल्लासपूर्वक किए। तब उनके मन में यह धारणा निश्चित हुई कि मैं इसी भव में मोक्ष पद पा सकूंगा। मैं चरम शरीरी हूँ।

अष्टापद तीर्थ पर परमात्मा की स्तवना करते करते वे अत्यंत भावविभोर हो गए। वहीं पर उनके द्वारा जगचिंतामणि स्तोत्र की रचना की गई। उसकी प्रथम गाथा में गौतमस्वामी जी ने फरमाया है-

''जगचिंतामणि ! जगनाह ! जगगुरु! जगरक्खण!
जगबंधव! जगसत्थवाह ! जगभाव-विअक्खण!
अट्ठावय संठविय रुव ! कम्मट्ठ-विणासण
चउवीसं पि जिणवर! जयंतु अप्पडिहय सासण!!

अर्तात् - जगत् में चिंतामणि रत्न समान।
जगत के स्वामी।
जगत के गुरु,
जगत का रक्षण करने वाले
जगत के निष्कारण बंधु।
जगत के उत्तम सार्थवाह!

जगत के सभी भावों को जानने में तथा प्रकाश करने में निपुण। भरत चक्रवर्ती द्वारा अष्टापद पर्वत पर जिनकी प्रतिमाएं स्थापित की गई हैं, ऐसे आठ कर्मों का नाश करने वाले तथा अबाधित उपदेश देने वाले हे 24 तीर्थंकरों। आपकी जय हो।

उस समय वहाँ पर जिन–बिम्बों के दर्शन–वंदन–अर्चन आदि के लिए देवी–देवता भी आए हुए थे। उनमें तिर्यक् जृम्भक देवता भी था। गौतमस्वामीजी से पुण्डरीक–कण्डरीक नाम का अध्ययन सुनकर उस तिर्यक् जृम्भक देवता को प्रतिबोध हुआ। जिसके फलस्वरूप वह देवता का जीव अपनी आयु पूर्ण कर, स्वर्ग से च्यव कर, वज्रस्वामी के रूप में उत्पन्न हुआ।

गौतमस्वामीजी की अद्‌भुत शक्ति को देखकर 1500 तापसों के मन में भी उनके प्रति अहोभाव जागृत हो गया था और उन्होंने गौतमस्वामीजी को गुरु के रूप में स्वीकार लिया था।

गौतमस्वामीजी अष्टापद पर्वत से जब उतरते हुए वापिस आ रहे थे, तब लौटते–लौटते मार्ग में जो जो तापस मिलते गए, वे सब उनका शिष्यत्व स्वीकारने लगे। गौतमस्वामीजी भी उन्हें अपने साथ लेते गए।

पर्वत से नीचे आकर गौतमस्वामीजी ने उन 1500 तापसों को पारणा कराने का निश्चय किया। वे तापसों से बोले–' आप लोगों को कई–कई मास, कई कई वर्ष हो गए तपस्या करते हुए, तो आप सब को आज मैं ही पारणा कराउँगा।'' ऐसा कहकर वे गोचरी की गवेषणा के लिए निकले तो उन्हें एक छोटे पात्र जितनी खीर की प्राप्ति हुई। वापिस आ कर उन्होंने सभी को पंक्ति बद्ध बैठने के लिए कहा। तापसों ने छोटे पात्र में खीर देखी परंतु किसी के मन में संशय नहीं हुआ कि हम 1500 खाने वाले और इतनी जरा सी यह खीर ! इससे तो एक का भी पेट नहीं भरेगा। गौतमस्वामी के आदेशानुसार वे सभी, संकल्प–विकल्पों को किये बिना ही पंक्ति बनाकर बैठ गए।

गौतमस्वामीजी ने उस परमान्न (खीर) के पात्र में अपना अंगूठा इस प्रकार रखा कि खीर को छूता रहे। वे सभी को इच्छानुसार खीर परोसने लगे। उन्होंने जब से दीक्षा ली उसी दिन से छठ के पारणे पर छठ (बेला) की तपस्या करते आ रहे थे। उसी तपादि के प्रभाव से उन्होंने ऐसी अक्षीण महानस लब्धि प्राप्त कर ली थी कि

जब तक अंगूठा अंदर हो तब तक खीर समाप्त नहीं होती। तब से प्रसिद्ध हैः-

''अंगूठे अमृत बसे लब्धि तणा भंडार।
श्री गुरु गौतम समरीए वांछित फल दातार।''

तभी 1500 तापस गुरु की महिमां को देखकर गद्गद हो गये और ऐसे गुरु मिलने पर अपने जीवन को सफल मान रहे थे। ऐसे में 500 तापसों को अत्यंत शुभ भाव की धारा चालू हुई और पारणा करते-करते ही उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गयी। गौतमस्वामीजी को भी पता नहीं चला की 500 तापस केवलज्ञानी हो गए हैं।

गौतमस्वामीजी ने उज्ज्वल श्वेत खीर खिलाने के बहाने मानो उनका मिथ्यात्व रूपी कालापन दूर करके मन को उज्ज्वल कर दिया। वे खीर के कवल ही उनके लिए मानो केवल (ज्ञान) रूप बन गए, केवलज्ञान के निमित्त बन गए।

पारणा कराने के बाद गौतमस्वामीजी ने कहा- 'चलो विहार करना है, हमें अपने गुरु के पास जाना है।' गुरु का शब्द सुनते ही वे सभी चमके, कान खड़े हो गए, पूछा-'आपके गुरु? आप इतने शक्तिमान लब्धिवान हैं, तो अपके गुरु कितनी शक्ति व लब्धियों से सम्पन्न होंगे। हमें अगर आपके गुरु के दर्शन होंगे तब तो हमारा जन्म सफल हो जायेगा।' इत्यादि विचार करते-करते दूसरे 500 को वहीं केवलज्ञान हो गया । इनके केवलज्ञान का भी गौतमस्वामीजी को भान नहीं हुआ।

गौतमस्वामीजी उन 1500 तापसों को साथ लेकर जहाँ भगवान महावीरस्वामीजी विराज रहे थे, उस तरफ जा रहे थे। जिस प्रकार हथिनियों का स्वामी (यूथाधिपति) हथिनियों से घिरा हुआ चलता है उसी प्रकार गौतमस्वामीजी उन तापसों से घिरे हुए सुशोभित हो रहे थे।

दूर से ही जब समवसरण दिखाई दिया-भगवान की योजनगामिनी वाणी कर्ण विवरों से टकराई.... चौंतीस अतिशय से युक्त अष्ट प्रतिहार्य से सुशोभित समवसरण की शोभा देखी तो

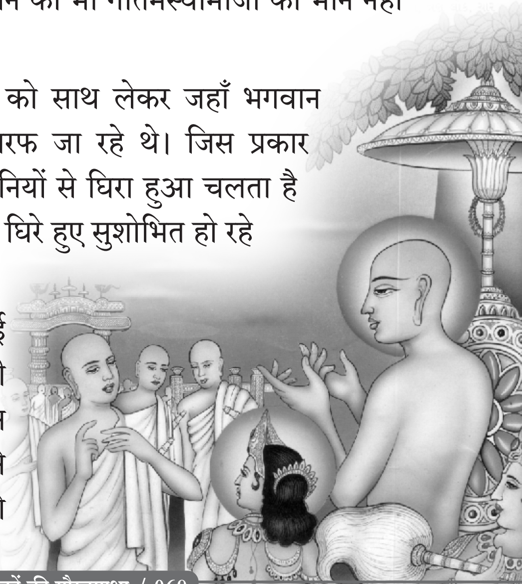

शेष 500 तापसों के मन का अज्ञान रूपी अंधकार भी दूर होने लगा... एकदम मानो प्रकाश-प्रकाश हो गया। उनके घातिकर्म नाश होने लगे... जब वे समवसरण तक पहुँचे... भगवान के दर्शन करते ही उन्हें पूर्ण रूप से पंचम ज्ञान (केवलज्ञान) की प्राप्ति हो गई।

समवसरण में बारह प्रकार की पर्षदा (सभा) बैठी हुई थी। गौतमस्वामीजी साधुओं की पंक्ति की तरफ आगे बढ़ने लगे... परन्तु 1500 तापस जो अब केवलज्ञानी बन चुके थे, वे सभी केवलज्ञानियों की पंक्ति की तरफ कदम बढ़ाने लगे। तब गौतमस्वामीजी ने उन्हें रोकते हुए कहा-'अरे, उधर कहाँ जा रहे हो, वहाँ तो सब केवलज्ञानी बैठे हैं। आप मेरे पीछे इधर आओ।' तभी भगवान ने मधुर वाणी में कहा- 'गौतम! केवलीयों की आशातना मत करो। तुम जिन तापसों को प्रतिबोधित करके साथ लाए हो, वे अब समवसरण तक पहुँचते-पहुँचते भावों की विशुद्धि से केवलज्ञानी बन चुके हैं।'

भगवान की वाणी सुनकर गौतमस्वामीजी को आश्चर्य भरी निराशा सी हुई कि मैं जिसे भी प्रतिबोधित करता हूँ उसे भी केवलज्ञान हो जाता है, फिर मुझे क्यों नहीं होता? यही प्रश्न एक बार जब उन्होंने प्रभु से पूछा तो उत्तर मिला-'गौतम ! तेरा, मेरे प्रति राग है। मोह है। चाहे यह राग प्रशस्त है फिर भी केवलज्ञान के लिए बाधक है। तू मेरा राग छोड़ दे, तो आज ही तुझे केवलज्ञान हो सकता है।'

जब कार्तिक वदि अमावस्या को भगवान का निर्वाण होने वाला था, तब उन्होंने गौतमस्वामीजी को एक देवशर्मा नामक विप्र को बोध देने के लिए उसके गाँव भेज दिया। उसे प्रतिबोध देकर वापिस आते हुए गौतमस्वामीजी वीर प्रभु का निर्वाण सुनकर मानो वज्र से आहत हो गए हों, इस प्रकार क्षण भर मौन होकर स्तब्ध से रह गए। उनके दुःख का पार न रहा... बिलख-बिलख कर बच्चों की भांति रोने लगे.... निराधार असहाय की भांति विलाप करने लगे।

अन्त में वीर-वीर करते जब उनकी हिचकियाँ बंध गई तो वीर के स्थान पर वी... वी... शब्द ही उच्चारित होने लगा उन्हें एक पाक्षिक राग का ख्याल आ गया। वी.... वी..... कहते कहते उनकी आत्मा प्रतिबोधित हो गई और 'वी' से वीतराग दशा का भान होते ही उन्हें उसी समय प्रभात में केवलज्ञान हो गया। वे सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन गए।

यहाँ पर कवि कहते है-

''अहंकारोऽपि बोधाय, रागोऽपि गुरुभक्तये।
विषाद केवलायाभूत, चित्रं श्री गौतमप्रभोः।''

गौतम प्रभु का सब कुछ आश्चर्यकारक ही हुआ। उनका अहंकार उल्टा बोध के लिए बन गया, राग भी गुरुभक्ति के लिए और विषाद केवलज्ञान के लिए हुआ।

जब, गौतमस्वामीजी भी अपने चरम शरीरी होने की मोहरछाप के लिए अष्टापद तीर्थ की यात्रा करने गए थे तो हे पुण्यशालियों ! हमें भी सम्यक्त्व एवं भव्यत्व की मोहर छाप की प्राप्ति हेतु तीर्थयात्रा अवश्य करनी चाहिए..।

आचार्य वज्रस्वामीजी द्वारा प्रभु पूजा के लिए पुष्पों की प्रेरणा

महापुर नगर का राजा और वहाँ की अधिकतम प्रजा बौद्धधर्मी थी। इस कारण जैन और बौद्धों के बीच में परस्पर विवाद होता रहता था। इस प्रकार जब पर्युषण महापर्व आए, तब प्रजाजनों ने जाकर राजा को निवेदन करते हुए कहा, 'हे राजन् ! जैनों का वार्षिक पर्व आया हुआ है, अतः माली लोगों के पास से सभी फूल अपने मंदिर में मंगवा दें जिससे जैनों को फूल नहीं मिलने से उनका अभिमान दूर हो जाएगा।'

प्रजाजनों की इस बात को सुनकर राजा ने सभी मालियों को यह आज्ञा कर दी। परिणाम स्वरूप जैनों को प्रभु भक्ति के लिए कुछ भी फूल नहीं मिल पाए।

संघ ने जाकर जैन आचार्य वज्रस्वामीजी को बताते हुए कहा-''तीर्थ की उन्नति के लिए साधु भी हमेशा प्रयत्नशील होते हैं, अतः आपको भी शासन की उन्नति के लिए कुछ प्रयत्न करना चाहिये।''

संघ की इस बात को सुनकर आकाश-गामिनी विद्या के बल से वज्रस्वामी माहेश्वरी वन में गए। उस वन में उनके संसारिक पिता धनगिरि का मित्र तडित् नाम का माली था। वज्रस्वामी के आगमन को देखकर वह खुश हो गया और बोला, 'आपके दर्शन कर आज मैं कृत-कृत्य हो गया हूँ.... मेरे योग्य सेवा कार्य फरमाएँ।'

वज्रस्वामी ने कहा, 'कल हमारा वार्षिक पर्व है, अतः उसके लिए महापुर नगर में प्रभु-भक्ति के लिए पुष्प चाहिये। यह सुनकर उस माली ने 20 लाख पुष्प प्रदान किए। उन्हें लेकर वे लघु हिमवंत पर्वत पर गए और वहाँ शाश्वत जिन प्रतिमाओं को वंदन कर वहाँ के देवता के पास से तथा बीच मार्ग में हुताशन यक्ष नाम के वन देवता के पास से फूल लिये। इन सब फूलों को लेकर वे महापुर नगर में पधारे और वहाँ पर भव्यातिभव्य प्रभु भक्ति का महोत्सव किया।

वज्रस्वामी के इस प्रभाव को देखकर बौद्धराजा भी अत्यंत ही प्रभावित हुआ। राजा तथा प्रजाजनों ने जैन धर्म स्वीकार किया। जैन शासन की अद्भुत प्रभावना हुई।

अंजना सुन्दरी दुःखी क्यों हुई?

एक राजा की दो पत्नियाँ थी। लक्ष्मीवती और कनकोदरी। लक्ष्मीवती रानी ने अहिंरत-परमात्मा की रत्नजड़ित मूर्ति बनवाकर अपने गृहचैत्य में उसकी स्थापना की। वह उसकी पूजा-भक्ति में सदा तल्लीन रहने लगी। उसकी भक्ति की सर्वत्र प्रशंसा होने लगी। 'धन्य है रानी लक्ष्मीदेवी को, 'दुख में सुमिरन सब करे, सुख में करे न कोय।' यह रानी तो सुख में भी प्रभु सुमिरन करती है, धन्य है!!' बच्चे, बूढ़े, नौजवान सभी के मुँह पर एक ही बात-धन्य है रानी लक्ष्मीवती, धन्य है इसकी प्रभु भक्ति। लोक में कहा जाता है कि जिसको ज्वर चढ़ जाता है, उसे अच्छे से अच्छा भोजन भी कडवा लगता है, रसगुल्ला खिलाओ, तो भी वह व्यक्ति थू... थू... करेगा। ईर्ष्यालु व्यक्ति की यही दशा होती है। रानी कनकोदरी के अंग-अंग में ईर्ष्या का बुखार व्याप्त हो गया। अपनी सौतन की प्रशंसा उससे सहन नहीं हो पाती थी। 'लोग मेरी प्रशंसा क्यों नहीं करते?' यह बात वह निरन्तर सोचती रहती थी। 'तू भी धर्म कर, तू भी परमात्मा की पूजा-सेवा कर। अरे ! उससे भी बढ़कर लोग तेरी प्रशंसा करेंगे।' ' मैं करूँ या नहीं करूँ, मगर लक्ष्मीवती की प्रशंसा तो होनी ही नहीं चाहिये।' इस प्रकार के विचारों की आंधी कनकोदरी के दिल और दिमाग में ताण्डव नृत्य मचाने लगी। कनकोदरी ने निर्णय लिया 'मूलं नास्ति कुतः शाखा' जब बाँस ही नहीं रहेगा, तो बांसुरी बजेगी कैसे? लोग इसकी प्रशंसा करते हैं, आखिर क्यों? मूर्ति है इसलिये मूर्ति है, इसलिए यह पूजा करती है, जिससे लोग प्रशंसा करते हैं और मुझे लज्जित होना पड़ता है। यदि मूल ही काट दिया जाये, तो बस चलो छुट्टी!! और वह सक्रिय हो उठी। ईर्ष्या से अंधी बनी हुई कनकोदरी एक भयंकर कृत्य करने के लिये तत्पर हो गयी, अत्यंत गुप्त रीति से वह गई गृहमंदिर में और परम कृपालु परमात्मा की मूर्ति को उठाकर कूडे करकट में... अशुचि स्थान में डाल दी... अरे! ऐसी गंदगी में जहाँ से भयंकर बदबू ही बदबू आ रही थी। मगर उस अज्ञानान्ध, ईर्ष्यान्ध स्त्री को इस बात का दुःख तो दूर, लेकिन अपार हर्ष था, अपनी नाक कटवा कर जैसे दूसरों के लिये अपशकुन करने का अनहद आनन्द हो! ओह!... 'हंसता ते बाँध्या कर्म, रोतां ते नवि छूटे रे।' जैसा कर्म करेगा, वैसा ही फल पायेगा। काश ! कनकोदरी यह जान पाती!! एक तो जिनप्रतिमा की निकृष्टतम आशातना और उपर से उस पाप की अनुमोदना। पूरे राज्य में हाहाकार मच गया। तहलका मच गया.... चोरी... चोरी!! रानी लक्ष्मीवती की आँखें रो...रो... कर सूज गयी। हाय ! मेरे परमात्मा को कौन उठा

ले गया? साध्वी जयश्री को इस बात का राज मिल गया। उन्हें रानी कनकोदरी के कुकृत्य का भान हो गया। उन्होंने कनकोदरी को समझा-बुझा कर परमात्मा की पुनः स्थापना तो करवा दी। लेकिन कनकोदरी ने इस कृत्य की विधिवत् आलोचना नहीं ली। इसलिये उसे इस कृत्य का भयंकर परिणाम भुगतना पड़ा अंजना सुन्दरी के भव में । अंजना सुंदरी को पति-वियोग में बाईस वर्ष तक रो...रो कर व्यतीत करने पड़े। पूर्व भव में वसन्ततिलका ने उसके इस अपकृत्य का अनुमोदन किया था,अतः उसे भी अंजना के साथ दुःख सहने पड़े। यदि हम किये गये पापों की आलोचना नहीं करते हैं और प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध नहीं बनते हैं, तो उसका अति भयंकर परिणाम भुगतना पड़ता है, जैसे अंजना सुंदरी की जिन्दगी के वे वियोग भरे वर्ष आँसू की कहानी बन कर रह गये।

हमें भी कभी तीर्थंकर व तीर्थंकर की प्रतिमाजी की आशातना नहीं करनी चाहिए। प्रतिमाजी को पत्थर कहना यह घोर आशातना है और इसका फल दुःख ही दुःख है... नरक है।

आचार्य स्थूलीभद्रसूरिजी द्वारा प्रतिष्ठित श्री नाकोड़ाजी तीर्थ

श्री नाकोड़ाजी तीर्थ का प्राचीन नाम वीरमपुर होने का उल्लेख है। कहा जाता है कि वि. पूर्व तीसरी शताब्दी में श्री वीरसेन व नाकोरसेन भाग्यवान बंधुओं ने अपने नाम पर बीस मील के अन्तर में वीरमपुर व नाकोरनगर गाँव बसाये थे। श्री वीरसेन ने वीरमपुर में श्री चन्द्रप्रभ भगवान का व नाकोरसेन ने नाकोरनगर में पार्श्वनाथ भगवान का मंदिर निर्मित करवाकर परमपूज्य आचार्य श्री स्थूलीभद्रस्वामीजी के सुहस्ते प्रतिष्ठा सम्पन्न करवायी थी। तत्पश्चात् श्री संप्रतिराजा प्रतिबोधक आचार्य श्री सुहस्तिसूरीश्वरजी, विक्रमादित्य राजा की सभा के रत्न आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर, भक्तामर स्तोत्र के रचयिता आचार्य श्री मानतुंगसूरीश्वरजी, श्री कालकाचार्य, श्री हरिभद्रसूरिजी, श्री देवसूरिजी आदि प्रकाण्ड विद्वान् आचार्यों ने इन तीर्थों की यात्रा कर राजा श्री संप्रति, राजा श्री विक्रमादित्य आदि राजाओं को प्रेरणा देकर समय-समय पर इन मंदिरों के जीर्णोद्धार करवाये थे।

वि. सं. 909 में वीरमपुर शहर सुसम्पन्न श्रावकों के लगभग 2700 घरों की आबादी से जगमगा रहा था। उस समय श्रेष्ठी श्री हरखचंदजी ने प्राचीन मंदिर का जीर्णोद्धार करवाकर श्री महावीर भगवान की प्रतिमा की प्रतिष्ठा करवायी थी, ऐसा उल्लेख है। वि. सं. 1223 में पुनः जीर्णोद्धार करवाने का उल्लेख मिलता है। नाकोरनगर लगभग तेरहवीं शताब्दी के अन्त तक आबाद रहा किन्तु वि. सं. 1280 में जब आलमशाह ने चढ़ाई की, तब श्री संघ ने प्रतिमाओं को वहाँ से चार मील दूर कालीद्रह गाँव में सुरक्षा हेतु गर्भगृह में रख दिया था। बादशाह ने मंदिरों को खाली पाकर तोड़ डाला। भय से जनता इधर-उधर गाँवों में जा बसी। वि. सं. 1280 में आलमशाह ने इस नगर पर भी चढाई की। तब इस मंदिर को भारी क्षति पहुँची। वि. की लगभग 15 वीं शताब्दी के आरंभ में इस मंदिर के नवनिर्माण का कार्य पुनः प्रारंभ किया गया। कालीद्रह में स्थित नाकोरनगर की 120 प्राचीन प्रतिमाएँ यहाँ लाकर उसमें से श्री पार्श्वनाथ भगवान की इस सुन्दर चमत्कारी प्रतिमा को मूलनायक के रूप में इस नवनिर्मित मंदिर में वि. सं. 1429 में पुनः प्रतिष्ठित किया गया जो अभी विद्यमान है। मूल प्रतिमा नाकोरनगर की रहने के कारण इस तीर्थ का नाम धीरे-धीरे नाकोड़ा प्रचलित हुआ।

एक अन्य मान्यतानुसार यह प्रतिमा भाग्यवान सुश्रावक श्री जिनदत्त को श्री

अधिष्ठायक देव द्वारा स्वप्न में दिये संकेत के आधार पर नाकोरनगर के निकट सिणदरी गाँव के पास नागद्रह तालाब से प्राप्त हुई थी, जिसे अति ही उल्लास व विराट जुलूस के साथ यहाँ लाकर वि. सं. 1423 में भट्टारक आचार्य श्री उदयसूरीश्वरजी के सुहस्ते प्रतिष्ठित करवाई गई।

वि. सं. 1511 के जीर्णोद्धार के समय यहाँ के प्रकट प्रभावी साक्षात्कार अधिष्ठायकदेव श्री भैरवजी की स्थापना आचार्य श्री कीर्तिरत्नसूरिजी द्वारा करवाई गई, जो इस तीर्थ की रक्षा करते हैं व भक्तों की मनोकामनाएँ पूर्ण करते हैं। जब आ. कीर्तिरत्नसूरिजी म.सा. पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमाजी सिर पर विराजमान करके ला रहे थे, तब भैरवजी हर्ष-आनंद के साथ नाच रहे थे, अतः हमें भी प्रभु पूजा-रथयात्रा में प्रभुभक्ति मय होना चाहिए।

सं. 1564 में ओसवाल वंशज छाजेड़ गोत्रीय सेठ जुठिल के प्रपौत्र सेठ सदारंग द्वारा जीर्णोद्धार करवाने का उल्लेख है। वि. सं. 1638 में इस मंदिर के पुनरुद्धार होने का उल्लेख है। लगभग सत्रहवीं शताब्दी तक यहाँ की जाहोजलाली अच्छी रही। इसके बाद श्रेष्ठी मालाशाह संकलेचा के भ्राता श्री नानकजी ने यहाँ के राजकुमार का अप्रिय व्यवहार देखकर गाँव छोड़ने का निर्णय लिया। अतः जैसलमेर का संघ निकालकर सारे जैन कुटुम्बीजनों के साथ गाँव छोड़कर चले गये।

उसके पश्चात् इस गाँव की जनसंख्या दिन प्रति दिन घटने लगी। आज जैनियों का कोई घर नहीं है, लेकिन श्रीसंघ द्वारा हो रही तीर्थ की व्यवस्था उल्लेखनीय है। सत्रहवीं सदी के बाद सं. 1865 में जीर्णोद्धार होने का उल्लेख है। इसके पश्चात् भी समय-समय पर आवश्यक जीर्णोद्धार हुए। यह तीर्थ स्वयं में विशद इतिहास को समेटते हुए भी स्थापत्य कला एवं चमत्कार प्रभाव का अद्वितीय संगम है, जो आप लाखों लोगों की श्रद्धा के केन्द्र के रूप में सुविख्यात है।

करकण्डु द्वारा निर्मित 'कलिकुण्ड तीर्थ'

बिहार प्रदेशान्तर्गत चंपानगरी के निकट कादम्बरी नामक एक बहुत भयावह वन था जिस में अनेक प्रकार के जंगली जानवर रहते थे। वहां पर कलि नाम का एक पर्वत था तथा उस की तलहटी के भाग में कुण्ड नाम का एक तालाब था। इन दो के नाम से ही उस स्थान का नाम कलिकुण्ड पड़ गया। यह स्थान भगवान पार्श्वनाथ के चरणकमल पड़ने से पवित्र हो गया तथा तीर्थ का रूप धारण कर गया।

पूर्वकाल में किसी नगर में एक वामन (छोटे कद का पुरुष) रहता था। वह जहाँ-जहाँ जाता था, राजा आदि सभी लोग उस को देखकर हंसते थे। एक बार वह बहुत उदास हो गया तथा उस के मन में मरने की इच्छा पैदा हो गई। वह एक रस्सी के द्वारा वृक्ष की शाखा पर लटकते हुए मरने का प्रयास करने लगा, उसी समय उस के एक मित्र सुप्रतिष्ठ ने उसे ऐसा करने से रोका। वह कहने लगा, 'हे भाग्यशाली ! तुम मरने के प्रयास क्यों करते हो ? तुम जैन धर्म का पालन करो, तप करो तथा ऐसा करने से तुझे सौभाग्य, आरोग्य रूप आदि मन इच्छित फल की प्राप्ति होगी।'

तत्पश्चात् वह उसे गुरु के पास ले गया तथा गुरुमहाराज की धर्म देशना सुनने के पश्चात् सम्यक्त्व सहित श्रावक धर्म अंगीकार किया। उस ने चिर काल तक अनेक प्रकार की तपस्याएँ कीं तथा यह नियाणा (निदान) भी बांधा कि उसे आगामी भव में ऊँचा कद मिले। वह वामन मरणोपरान्त हाथी बना और इसी कादम्बरी वन में पैदा हुआ। उस हाथी का नाम महीधर था तथा वह बहुत से हाथियों का स्वामी था।

एक बार भगवान पार्श्वनाथ अपनी छद्मस्थ अवस्था में (केवलज्ञान से पूर्व की अवस्था) विहार करते हुए कलिकुण्ड नाम के स्थान में पधारे तथा वहाँ पर वे कायोत्सर्ग ध्यान में स्थिर रहे। उस समय महीधर हाथी सरोवर से जलपान करने के लिये आया तथा भगवान को कायोत्सर्ग ध्यान में देखकर उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। वह मन में विचार करने लगा, 'मैंने पूर्व भव में धर्म की आराधना करते हुए भी उसकी विराधना की जिस से मुझे पशु का शरीर प्राप्त हुआ। अब मैं भगवान की पूजा करता हूं जिस से मेरा जन्म सफल हो जाए।'

इस प्रकार विचार करते हुए उस ने कुण्ड नामक सरोवर से बहुत से कमल के

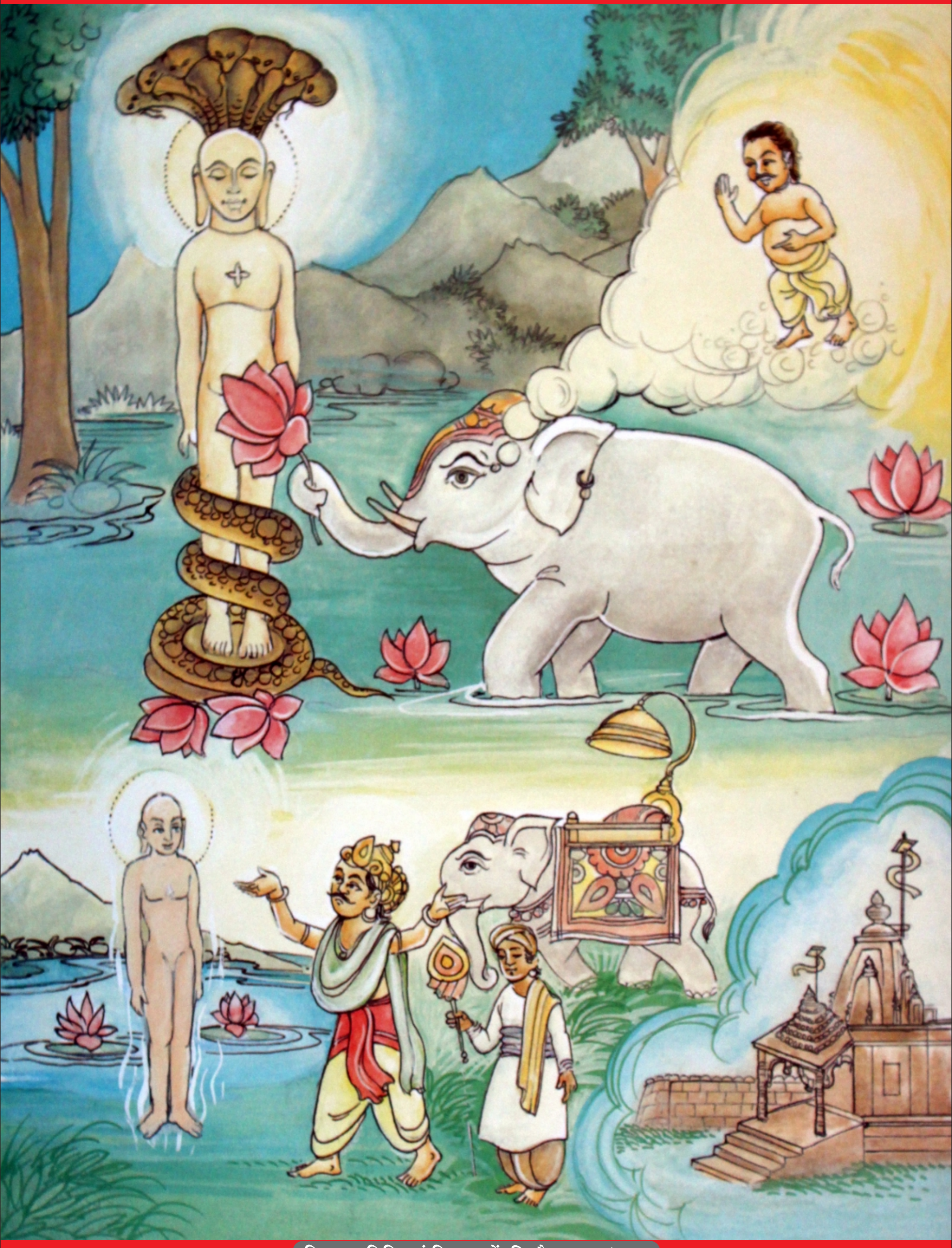

फूल तोड़े तथा उन्हें अपनी सूंड के द्वारा भगवान के चरणों में चढ़ाते हुए भगवान की पूजा की। हाथी ने उपवास भी किया तथा मृत्यु के पश्चात् महा ऋद्धिवाला व्यंतर देव बना।

उस समय चम्पापुरी नगरी में राजा करकण्डु राज्य करता था। उसने स्थानीय लोगों से हाथी सम्बन्धी सब वृत्तान्त सुना तथा बहुत आश्चर्य चकित हुआ। वह जब उस स्थान पर आया, भगवान पार्श्वनाथ अन्यत्र विहार कर चुके थे। प्रभु के दर्शन बिना वह अपने आप को भाग्यहीन मानने लगा। उसने हाथी की प्रशंसा की और अपनी निंदा की।

उसी स्थान पर राजा करकण्डु ने एक मंदिर बनवाकर नौ हाथ प्रमाण भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्थापित की। ऐसा मत भी प्रचलित है कि यह प्रतिमा धरणेन्द्र देव की कृपा से मिली थी। राजा ने प्रसन्न चित्त से भगवान की प्रतिमा का वंदन पूजन किया। उसने अपने बनाए हुए मंदिर में हाथी की मूर्ति भी स्थापित की। हाथी का जीव जो मरणोपरान्त व्यन्तर देव बना हुआ था, प्रभु की प्रतिमा की पूजा करने- वालों की मनोकामनाएँ पूर्ण करने लगा। इस प्रकार कलिकुण्ड तीर्थ की उत्पत्ति हुई और राजा करकण्डु भी प्रभावक श्रावक बना।

अवंतिसुकुमाल द्वारा निर्मित अवंती पार्श्वनाथ तीर्थ

आज से प्रायः दो हजार वर्ष पूर्व मगधराज सम्प्रति राजा का राज्य था। उस पराक्रमी राजा ने लगभग 3 खंड धरती पर अपनी सत्ता जमाई थी। उसके गुरु और वीर भगवान की आठवीं पाट पर बैठे आर्य सुहस्तिसूरिजी म. विहार करते एकदा उज्जयिनी नगरी में आए। वे भद्रा सेठानी की गौशाला में उतरे। रात को आवश्यक आदि क्रिया करके शिष्यों को नलिनीगुल्म विमान का अध्ययन पढ़ाने लगे।

भद्रा सेठानी अनर्गल अथाह ऋद्धि से परिपूर्ण थी। उसका पुत्र अवन्ती सुकुमाल उस जमाने में शालिभद्र की तरह बत्तीस स्त्रियों के साथ सुख भोगते, अपने महल में सातवीं मंजिल पर रहते यह भी नहीं जानता कि सूर्य कब उगता है कब अस्त होता है? रात दिन स्त्रियों के हाव-भाव में ही मोहित, समय व्यतीत करता है।

संयोगवश नलिनीगुल्म विमान का अध्ययन करने वाले मुनियों के शब्द अवन्ती सुकुमाल के कानों से टकराए। वह प्रियाओं से दूर हट कर एकचित्त से सुनने लगा। उसे रस आया। एकदम उसे कुछ याद आया हो, ऐसा लगा। मैंने यह विमान कहीं देखा है, पर कहाँ? याद नहीं आ रहा । तुरन्त सब छोड़-छाड़कर नीचे उतर गया – पहुंचा गुरु के पास... सुनने लगा दत्तचित्त से। ऊहापोह करते उसे जातिस्मरण ज्ञान हुआ कि गत-भव में मैं देव था, इसी विमान में। बस... मुझे फिर वहीं जाना है, ऐसा सोचकर वह गुरुजी से बोला :- 'गुरुदेव ! क्या आप नलिनीगुल्म विमान में से आए हो? मैं भद्रा का पुत्र अवन्ती, आपका अध्ययन सुन कर आया हूँ।' 'भाई ! इस विमान की बात तु कैसे जानता है?' सातवीं मंजिल पर बत्तीस स्त्रियों के साथ दिन रात विलासी जीवन जीने वाले अवन्ती सुकुमाल को देखकर गुरुदेव विस्मय पाए और पूछा।

अवन्ती सुकुमाल बोला- 'स्वामिन् ! आपके शब्द मेरे कान में पड़ते ही मुझे कुछ याद आया, ऊहापोह करते जातिस्मरण ज्ञान से मैने जाना कि मैं नलिनीगुल्म विमान में से आया हूँ। आप कब पधारे?'

देवानुप्रिय ! मैं कोई वहाँ से नहीं आया परन्तु श्रुतज्ञान के बल से तीनों लोक की बात हम जान सकते हैं।'

तत्पश्चात् गुरुदेव ने नलिनीगुल्म विमान का स्वरूप कहा। जिसे सुनकर अवन्ती बोला– 'वहाँ मैं पुनः जाऊं, ऐसा उपाय कहो।'

'देवानुप्रिय ! यह विमान तो दीक्षा लेने से ही मिल सकता है।'

'तो प्रभु, मुझे दीक्षा दे दो।'

'भाई ! दीक्षा, कोई बच्चों का खेल नहीं। दीक्षा पालना–लोहे के चने चबाना है। तुम्हारे जैसे सुकुमार का यह काम नहीं।'

'प्रभु ! दीक्षा लेने की तो अत्यन्त उत्कण्ठा है, पर दीर्घकाल पर्यन्त चारित्र पालने में असमर्थ हूँ। अतः अनशन सहित दीक्षा दे दो।'

महानुभाव ! यदि आपका ऐसा ही भाव है तो अपनी माताजी आदि की आज्ञा लेना जरुरी है। आज्ञा ले आओ।'

गुरु के वचन सुनकर वह अपनी माता के पास गया। माता से आज्ञा मांगी। बहुत मिन्नतें कीं। माता वगैरह सभी परिवार ने जब आज्ञा न दी तो चुपचाप अपने हाथों से केश लुंचन करके साधु का वेश पहनकर सुहस्तिसूरिजी के पास आ गया। गुरुजी ने विधिपूर्वक दीक्षा दे दी।

पश्चात् गुरु की आज्ञा से अनशन करके, श्मशान में जाकर कंथारिका कुण्ड (वृक्ष विशेष) के नीचे काउसग्ग ध्यान में खड़ा हो गया। उसके कोमल मांस और खून से खिंची एक शियालणी अपने बच्चों सहित वहाँ आ गई और सुकुमाल के शरीर को खाने लगी। थोड़ी ही देर में मुनि सुकुमाल महान वेदना को समभाव से सहन करते, काल करके, जहाँ से आए थे, वहीं अर्थात् नलिनीगुल्म विमान में महर्द्धिक देव रूप से उत्पन्न हुए।

उर भद्रा सेठानी सुबह बहुओं के साथ गुरुजी के पास आई और अपने बेटे के बारे में पूछा। तब गुरु ने ज्ञानबल से उसका सर्व कार्य माता को कह सुनाया। सुनते ही माता व बहुएं आक्रंद करने लगीं। तत्पश्चात् एक गर्भवती बहु को छोड़कर एकत्रीश (31) बहुओं के साथ संयम लेकर, शुद्ध पालन कर, स्वर्ग सिधारीं।

उस गर्भवती बहु ने बेटे को जन्म दिया। नाम रखा गया 'अवन्ती'। बड़ा होने पर अपने पिता का वृतान्त सुनकर जहाँ पिता की महामृत्यु.... महाकाल हुआ था वहीं मन्दिर बनवा कर महाकाल नाम रखा। उसमें पुरूषादानीय पार्श्वप्रभु की अद्‌भुत प्रतिमा विराजमान की। बहुत काल तक उस प्रतिमा की पूजा होती रही।

एक बार मौका देख कर ब्राह्मणों ने उस प्रतिमा को हटाकर, यहाँ शिवलिंग वहाँ बिठा दिया। सिद्धसेन दिवाकरसूरिजी ने कल्याण मंदिर स्तोत्र की रचना की और उससे पार्श्वनाथ प्रभु की स्तुति की और शिवलिंग में से पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा प्रगट हुई।

इस अद्भुत चमत्कार को देखकर राजा प्रजा आनन्दित हुए। राजा सम्पूर्ण श्रद्धावान बना। मंदिर के निभाव के लिए सौ गाँव दिए। दृढ़ जैन धर्मी बना। प्रभु पार्श्वनाथ की पूजा प्रवर्तमान हुई।

श्री शत्रुंजय तीर्थ

जैन तीर्थों में श्री शत्रुंजय तीर्थ एक महानतम तीर्थ है। तीनों लोकों में इसके समान दूसरा कोई तीर्थ नहीं है। जैसे मंत्रों में नवकार, देवों में इन्द्र, पर्वतों में मेरू, तारों में चन्द्रमा, पक्षियों में हंस प्रधान है, उसी प्रकार यह तीर्थ भी सभी तीर्थों में प्रधान है। इसके श्री पुंडरीकगिरि, श्री सिद्धाचल, श्री विमलाचल, श्री विमलगिरि, श्री सिद्धगिरि आदि अनेक नाम हैं। गुजरात प्रदेशान्तर्गत सौराष्ट्र में पालीताना नगर के अन्दर पर्वत के रूप में स्थित यह तीर्थ विद्यमान है। यह तीर्थ शाश्वत है।

वर्तमान चौबीसी के 22वें तीर्थंकर श्री नेमिनाथजी के अतिरिक्त अन्य सभी 23 तीर्थंकरों ने यहाँ पधारकर इस महान तीर्थ को अपनी चरण रज से पवित्र किया। प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव प्रभु तो यहाँ पर पूर्व निन्यानवें बार पधारे तथा रायण रुख वृक्ष के नीचे देव रचित समवसरण में बैठकर उपदेश दिया। आगामी चौबीसी में भी तीर्थंकर यहाँ पधारेंगे तथा गत चौबीसी के सभी तीर्थंकर यहाँ पधारे थे। इस तीर्थ की महिमा महान है। महाविदेह में विचर रहे श्री सीमंधरस्वामी ने इन्द्र के सामने कहा कि इस तीर्थ के समान दूसरा कोई तीर्थ नहीं है।

श्री शत्रुंजय तीर्थ पर आकर पापी जीव भी पाप मुक्त हो जाते हैं। सौतेली माता द्वारा कुक्कुट बना हुआ चंद्र राजा यहाँ पर आकर अपने असली स्वरूप को प्राप्त हुआ। इस तीर्थ पर अनन्त जीव मोक्ष को प्राप्त हुए हैं। कार्तिक सुदि पूनम के दिन द्राविड़ वारिखिल्लजी दश कोटि मुनियों के साथ यहाँ पर मोक्ष पधारे। पाँचों पांडव यहाँ से मोक्ष गये। प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव के गणधर पुण्डरीकस्वामी एक मास का अनशन कर पाँच करोड़ मुनियों सहित चैत्र सुदि पूर्णिमा के दिन मोक्ष सिधारे। पुण्डरीकस्वामी ने सवा लाख श्लोक में इस तीर्थ की महिमा का वर्णन सुर एवं मनुष्यों की सभा में किया।

तीर्थ की महिमा का वर्णन इस प्रकार से भी मिलता है–

गौ नारी बालक मुनि, चउ हत्या करनार।
यात्रा शुभ भावे करे, पाप पुंज दे जार॥
जे परदारा लंपटी, चोरी के करनार।
देव द्रव्य भक्षण करे धर्म द्रव्य हरनार॥?
चैत्री कार्तिकी पूणमे, करे यात्रा इस धाम।
तप तपता पातक टरे, तिने दृढ़ शक्ति नाम॥

अभयकुमार द्वारा आर्द्रकुमार को उपहार

इस भरतक्षेत्र में समुद्र के किनारे आर्द्रक नाम का यवन देश है। उसमें आद्रक पुर नाम का नागर है। वहाँ आर्द्रक नाम का राजा राज्य करता था । उसको आर्द्रक नाम की पटरानी थी। उसको आर्द्र नाम का पुत्र था। वह क्रम से यौवनावस्था को प्राप्त हुआ।

उस आर्द्रक राजा की श्रेणिक राजा के साथ परम्परागत गाढ़ प्रीति थी। एक बार राजा श्रेणिक ने बहुत सी वस्तु भेंट स्वरूप तैयार करके आर्द्रक राजा के पास अपना खास मंत्री भेजा। वह मंत्री कई दिन के सफर बाद आर्द्रकनगर पहुँचा। वहाँ पर आर्द्रक राजा ने अति आदर के साथ सम्भाषण करके श्रेणिक द्वारा प्रदत्त भेंट को ग्रहण किया और पूछा–

'मेरा भाई, श्रेणिक राजा कुशल है न ! प्रजा में भी सब तरह का आनन्द है न!'

तब मंत्री ने भी वहाँ के सम्पूर्ण कुशल–समाचार सुनाए। सुनकर राजा ने परम आनन्द सम्पादन किया। उस समय वहीं पर आर्द्रकुमार भी बैठा था। उसने पूछा–

'पिताजी ! वह श्रेणिक कौन है ! जिसके साथ आपकी प्रीति है।'

तब राजा बोला –'वह मगधदेश का राजा है। उसके और अपने कुल में परम्परागत प्रीति है।'

पिता के वचन सुनकर आर्द्रकुमार ने उस मंत्री से पूछा– 'आपके राजा का सर्वगुण सम्पन्न ऐसा कोई पुत्र है, जिसके साथ मैं भी मैत्री करुं?'

वह मंत्री बोला – 'श्रेणिक राजा का अभयकुमार नाम का पुत्र है। वह सर्व कला निधान, सर्वबुद्धि का समुद्र 500 मन्त्रियों का स्वामी, महादयावान, महादातार, अत्यन्त विचक्षण, निर्भय, धर्म को जानने वाला, कृतज्ञ है। अधिक क्या कहूँ? संसार में जितने भी गुण हैं, सब उसमें हैं।'

यह सुन हर्षित हुआ कुमार बोला–'मुझे मिले बिना आप वापिस मत जाना। और अपने देश में जाकर अभयकुमार को 'स्नेहवृक्ष के बीज तुल्य' ऐसे कहना।'

ऐसा कहकर आर्द्रकुमार ने धीरे से उस मंत्री को कुछ कहा। उन वचनों को अंगीकार करके राजा के बताए स्थान पर, वहाँ के राजपुरुषों सहित गया। कुछ दिन आदर पूर्वक वहाँ ठहरकर जब उसने वापिस राजगृह जाने की बात की, तो आर्द्रक

राजा ने मूंगा–मोती आदि उत्तम भेंट भर कर, श्रेणिक महाराजा के लिए दिया। साथ में अपना मंत्री भी भेजा। आर्द्रकुमार ने भी उत्तम मोती–वस्तुएं आदि भेंट स्वरूप अभयकुमार के लिए दिया। साथ में मिष्ट वाणी से संदेशा भी दिया।

मंत्री ने राजगृही पहुँचकर श्रेणिक राजा और अभयकुमार को भेंट दी और मंत्री ने अभयकुमार से कहा– 'आपके साथ आर्द्रकुमार मैत्री करना चाहता है।'

तब जिनशासन में कुशल अभयकुमार ने सोचा– 'निश्चय ही वह राजकुमार विराधित श्रमणपणा के कारण अनार्य देश में उत्पन्न हुआ है, परन्तु वह राजपुत्र महापुरुष है, निश्चय ही आसन्न भव्य है। क्योंकि अभव्य, दूरभव्य की तो मेरे साथ मित्रता करने की इच्छा भी नहीं होती। अतः किसी प्रकार से उसे धर्म मार्ग में जोडूं। (कुछ क्षण सोचकर) हाँ, यह उपाय ठीक है। उपहार के बहाने से उसके पास जिन प्रतिमा भेजूं, तो उसके नित्य दर्शन से उसे कुछ ज्ञान हो सकता है और मेरी भी इष्ट सिद्धि हो सकती है।'

ऐसा उपाय सोचकर – छत्र–चामर–सिंहासनादि से युक्त रत्नमयी श्री ऋषभदेवस्वामी की प्रतिमा पेटी में रखकर, उस प्रतिमा के आगे धूप–दीपादि सब देवपूजा का सामान रखा। फिर पेटी बंद करके ताला देकर अभयकुमार ने उस पर अपनी मुहर (छाप) लगा कर, तैयार करके रखी।

कुछ दिन रूक कर जब आर्द्रक राजा का मंत्री राजगृही से विदा ले कर जाने लगा, तब श्रेणिक राजा ने प्रिय आलाप पूर्वक बहुत सी वस्तुएँ राजा के लिए दीं। अभयकुमार ने भी वह पेटी देकर अमृत तुल्य वचनों से इस प्रकार कहा–

'वह पेटी आर्द्रकुमार को ही देना और मेरे भाई को कहना कि इस पेटी को एकान्त में बैठकर खोले। इसके अन्दर की वस्तु आप ही को देखना है और किसी को नहीं दिखाना, आदि।'

अभयकुमार के वचन को स्वीकार करके आर्द्रक राजा का मंत्री वहाँ से विदा लेकर क्रमशः अपने नगर आ गया। राजा को और कुंवर आर्द्रकुमार को उनकी–उनकी भेंट सौंप दी। और फिर कुमार को अभयकुमार का संदेश भी कहा। तदनुसार आर्द्रकुमार हर्षित हो एकान्त में बैठकर उस पेटी को खोल कर अन्धेरे में भी उद्योत करने वाली उस रत्नमयी प्रतिमा को देखकर विचार करने लगा– 'अहो ! क्या यह उत्तम देही का कोई आभरण है ? तो क्या यह मस्तक पर पहना जाता है अथवा तो कण्ठ में या हृदय पर ?'

ऐसा विचार करते उसी तरह से प्रतिमा को मस्तक कण्ठ और क्रमशः हृदय पर रखा परन्तु वह अमूल्य आभरण (प्रतिमा) कहीं भी जब टिका नहीं तब सोचने लगा इसे कहाँ पहना जाता है? कैसे पहनुं? इस तरह बार-बार उस प्रतिमा को देखते और फिर टकटकी लगाकर देखते-देखते उसे कुछ याद आया कि ऐसा ही मैंने पहले भी कहीं देखा हो, ऐसा मालूम होता है, परन्तु कहाँ देखा होगा, वह याद नहीं...। इस तरह उहापोह करते कुमार को जातिस्मरण ज्ञान जनित मूर्छा आ गई। थोड़े समय बाद जब मूर्छा हटी तो स्वयमेव अपने पूर्वभव को स्मरण करने लगा- इस भव से तीसरे भव में मगधदेश में वसंतपुर नगर में सामाजिक नाम का सेठ था। उसकी बंधुमती नामक स्त्री थी। एक दिन आचार्य सुस्थितसूरि के पास उपदेश सुनकर स्त्री सहित वह प्रतिबोधित हुआ। गृहस्थ वास से विरक्त उन दोनों ने आचार्य महाराज से दीक्षा ली। क्रमशः गुरु के साथ विहार करते पाटण में आए। बंधुमती भी दीक्षा लेकर अपनी गुरुणी जी आदि साध्वीयों के साथ विचरण करती हुई उन्हीं दिनों पाटण में आ गई। एक दिन बंधुमती साध्वी को देखकर पूर्वावस्था के भोग याद आ गए। तब उस पर मेरा राग बढ़ा। यह बात मैने एक साधु से कह दी। उस साधु ने प्रवर्तिनी साध्वी से और प्रवर्तिनी ने बंधुमती से बात की। तब बंधुमती खेदातुर होकर प्रवर्तिनी से बोली-

'यदि वह गीतार्थ भी मर्यादा उल्लंघे तो क्या गति होगी? मैं यहाँ से विहार करूं तो भी इसका राग छूटेगा नहीं। पीछे आ भी सकता है। इसलिए हे भगवति ! अब मैं निश्चय ही मृत्यु का शरण लूं जिससे इसका और मेरा शील अखण्डित रहे।'

ऐसा कहकर बंधुमती साध्वी, गुरुणी की आज्ञा पूर्वक अनशन करके, शुद्ध भाव से प्राण त्याग कर देव गति को प्राप्त हुई।

बंधुमती की मृत्यु सुनकर मैंने विचार किया कि बंधुमती निश्चय ही व्रत भंग के भय से मरी है और मैं व्रतमग्न हूं। अतः मेरा जीना भी उचित नहीं । तब मैंने भी अनशन करके देवगति पाई। वहाँ से च्यव कर मैं यहाँ धर्महीन अनार्य देश में पैदा हुआ हुँ। इस भव में जिसने मुझे प्रतिबोधित किया है, वह मेरा भाई भी है और गुरु भी है। मेरे किसी पुण्योदय से अभय ने मुझे प्रतिबोधित किया है। परन्तु मैं मन्दभागी हुँ, जो मुझे अभयकुमार के दर्शन अभी तक नसीब नहीं हुए। अतः अब पिता की आज्ञा लेकर आर्य देश में जाऊँगा, जहाँ मेरा गुरु अभयकुमार है।'

ऐसे मनोरथ करता हुआ और ऋषभदेव भगवान की प्रतिमा का पूजन करता

हुआ आर्द्रकुमार दिन व्यतीत करने लगा। उसे रह-रहकर अभयकुमार की स्मृति सताने लगी। उसकी नींद और भूख उचाट होने लगी।

एक दिन साहस करके उसने पिता से कहा-

'हे पिताश्री ! मैं अपने मित्र अभयकुमार को देखना चाहता हूँ। आप की आज्ञा चाहता हूँ।'

राजा बोला-'हे पुत्र ! तुम वहाँ जाने की इच्छा नहीं करना। अपने-अपने स्थान में रहते हुए ही मैत्री निभाना। मेरी भी स्वस्थानस्थित श्रेणिक राजा से मैत्री है। यहाँ का कोई राजा या राजकुमार वहाँ गया नहीं और वहाँ का कभी आया नहीं।'

तब पिता की आज्ञा से बंधे हुए, अभयकुमार से मिलने की इच्छा प्रबल होने से, उसे सोने-उठने-बैठने-खाने-चलने में हर काम में अभयकुमार-आश्रित दिशा ही नेत्र सदृश रहे। पास में रहने वालों से भी मगध की ही बात करते रहे- मगधदेश कैसा है? वहाँ का राजा कैसा है? मंत्री कैसा है? वहाँ जाने का मार्ग कैसा है? कौन सा है? कितनी दूर है? इत्यादि।

उसकी ऐसी स्थिति जानकर राजा ने विचार किया कि यह अब यहाँ रह नहीं पाएगा। चोरी से भी कभी भी भाग सकता है। अभयकुमार से मिलने की इसकी तमन्ना अति उत्कृष्ट हो चुकी है। अतः मुझे इसकी पूरी-पूरी चौकीदारी रखनी पड़ेगी।

ऐसा विचार करके राजा ने पाँच सौ (500) सामन्तों को आज्ञा दी, 'तुम लोग कुमार की रक्षा करना। वह कहीं दूर जाने न पाए, इस तरह हमेशा उसका ध्यान रखना।'

आदेश पाकर 500 सामंत देह की छाया की तरह हरदम कुमार के पास ही रहते। कुमार भी सब समझ गया कि मैं नजरकैद हूँ। तथापि उसने अभयकुमार के पास जाने का प्रयास जारी रखा। उसने जान बूझकर अश्व-सवारी करना शुरु किया। घोड़ा फिराते फिराते वह कुमार, सामंतों के आगे-आगे रहता है और फिर अपने आप ही वापिस आ जाता है। सामन्त भी अश्वारोही बने हुए अंगरक्षक की तरह साथ ही रहते हैं। रोज-रोज इस तरह करते सामन्तों को विश्वास हो गया कि कुमार थोड़ा आगे भी रहे तो भी वापिस आ ही तो जाता है। अतः उन्होंने कुछ हरकत न दिखाई।

अब आर्द्रकुमार ने अपने खास विश्वासी पुरुषों के पास से समुद्र में जहाज तैयार कराकर रत्नादि मूल्यवान वस्तुओं से भराया। जिन प्रतिमा भी चुपके से उसमें रखवा दी। सब करने के बाद एक दिन अश्व खेलता हुआ सामन्तों से काफी आगे निकल गया और फुर्ती से जहाज में बैठकर जहाज चालू करा दिया। क्रमशः आर्य देश पहुँचा।

वहाँ पहुँचकर ज्यों ही जहाज से उतरा, तुरन्त अभयकुमार को प्रतिमा भेजकर साधु का वेष ग्रहण कर दिया।

वेष ग्रहण करके ज्यों ही सामायिक का पाठ उच्चरना शुरु करता है, कि इतने में ही आकाश में से देवी बोली–'अहो कुमार ! यद्यपि तुम सात्विक हो, तथापि इस वक्त तुम दीक्षा मत लो, क्योंकि तुम्हारे भोगावली कर्म अभी बाकी है, उन्हें भोगकर फिर दीक्षा लेना। भोग्य कर्म तो तीर्थंकरों को भी अवश्य भोगना ही पड़ता है। अतः संयम ग्रहण करके त्याग करना उचित नहीं। उस भोजन का क्या प्रयोजन जो वमन रूप बने।'

ऐसा बहुत मना करने पर भी उसके वचन को मान न देकर संयम ग्रहण किया। इस तरह वे प्रत्येक बुद्ध मुनि, तीक्ष्ण व्रत पालन करते हुए भूमंडल में विचरने लगे।

एक बार वसन्तपुर पत्तन में, किसी देवकुल में काउसग्ग ध्यान में खड़े रहे। उस नगर में देवदत्त नामक सेठ रहता था। उसकी धनवती नामक स्त्री थी। बंधुमती का जीव देवलोक से च्यव कर श्रीमती नाम की पुत्री के रूप में उनके घर जन्मी । खूब लाड़ प्यार से पाल्यमान क्रमशः वह यौवनावस्था को प्राप्त हुई। एक बार सखियों सहित घूमते घूमते सभी सखियाँ थक गई तो उस ही देवकुल में पहुँच गई। वहाँ पर वे सब पतिवरण का खेल खेलने लगी। जब सब कन्याएँ 'भर्तार को वरो–भर्तार को वरो।' इस प्रकार बोली तो किसी कन्या ने किसी का नाम लिया, अन्य ने दूसरे किसी का नाम लिया। इस तरह सभी ने अपनी–अपनी इच्छा से वर अंगीकार कर लिया। तब श्रीमती, साधु के पास जाकर बोली –

'हे सखियों ! मैने तो इस पूज्य को वरा है।'

उसी समय आकाश वाणी हुई– 'साधुवृतं – साधुवृतम्''।

ऐसी जोर से गुंजारव करती हुई उसी देवी ने वहाँ रत्न की वृष्टि की, अर्थात् जिस देवी ने दीक्षा लेते समय आर्द्रकुमार को मना किया था, उसी ने रत्नवृष्टि की।

तब जोरदार गूंजों से भयभीत हुई श्रीमती साधु के पाँव में पड़ी।

वह साधु विचार करने लगा– 'यहाँ रहते मुझे अनुकूल उपसर्ग हुआ है। अतः यहाँ नहीं रहना चाहिए।'

ऐसा विचार कर मुनि अन्यत्र चले गए। तब स्वामी बिना के धन का मालिक राजा होता है। ऐसा निर्णय कर के रत्न लेने के लिए राजपुरुषों सहित राजा वहाँ आया। धन के स्थान पर राजा और राजपुरुषों को बहुत सर्प ही सर्प दिखाई दिए। उसी समय वह देवी आकाश से बोली–

'यह द्रव्य इस कन्या के वर स्वीकार करने पर मैंने ही दिया है। अतः इसी कन्या के भाग्य का है।'

ऐसा सुनकर राजा अपना समूह लिये वापिस हो गया। तदनन्तर वह सब धन, श्रीमती के पिता देवदत्त सेठ ने ले लिया। अब श्रीमती के लिए बहुत वर आने लगे। तब पिता ने पुत्री से बात की। श्रीमती बोली–

'पिताजी ! जिस महर्षि का मैने वरण किया है, वह ही मेरा भर्तार है। उसको वरण करने में देवी ने जो धन दिया था, उस धन को ग्रहण करते समय आपने भी वही माना है। अतः उस मुनि के लिए मेरी कल्पना करके और को देना योग्य नहीं है। कहा भी है–

'राजा एक ही जुबान बोलते हैं, साधु भी एक ही जुबान बोलते हैं, कन्या भी एक ही बार ही दी जाती है।'

यह सुनकर सेठ बोले–वह मुनि तो भ्रमर की तरह एक स्थान रहने वाला नहीं। अतः अब वह कहाँ होगा? कैसे यहाँ आएगा? यहाँ आए और न भी आए। उसकी पहचान क्या?

तब श्रीमती बोली– 'उस दिन गाजने के भय से मैंने साधु का स्पर्श किया था। अतः मैं पहचानती हूँ। आप ऐसी व्यवस्था करो कि जो जो साधु यहाँ आए, उसका मैं दर्शन करूं।'

सेठ बोला– 'इस नगर में जो भी साधु आए उनको अपने हाथ से भिक्षा देना। जिससे सबका दर्शन हो जाएगा।'

श्रीमती वैसा ही करने लगी। निरंतर ऐसा करते बारह वर्ष बीत गए। वह

महामुनि दिशा भूल गया और वसंतपुर पत्तन में आ गया। श्रीमती ने उन्हें पहचान लिया, और बोली– 'हे नाथ ! उस देवकुल में मैंने जो पति वरा था, वह मेरे वर तुम ही हो। मेरे भाग्य से ही यहाँ आए हो। मैं मुग्धा हूँ। अब मुझे छोड़कर कहाँ जाओगे? आप जब चले गए थे, तब से लेकर महादुःख से मैंने इतना समय बिताया। अतः प्रसन्न होकर मुझे अंगीकार करो। यदि मेरा पाणिग्रहण नहीं करोगे तो मैं अग्नि में प्रवेश करके आपको स्त्री हत्या का पाप दूंगी।'

तब उसके पिता वगैरह और भी महाजनों ने शादी के लिए प्रार्थना की, तब उस साधु ने दीक्षा लेते समय देवी ने मना किया था, उस वचन का स्मरण किया। भोगावली कर्म का उदय मान कर साधु ने वेश छोड़कर उसका पाणिग्रहण किया।

अब श्रीमती के साथ बहुत दिन तक भोग–भोगते, उनको एक पुत्र हुआ। क्रमशः बालक पाँच वर्ष का हुआ। तब राजकुमार समान कान्तिवाला दिखने लगा।

एक दिन हर्षित होकर आर्द्रकुमार श्रीमती से बोला– 'अब यह पुत्र तेरा सहारा हो, मैं दीक्षा लेता हूं।'

तब बुद्धिनिधि श्रीमती, पुत्र को समझाने के लिए सूत कातने बैठी। सूत कातती माता को देख कर बालक बोला–

'माँ, यह साधारण लोगों के योग्य क्या काम कर रही हो?'

श्रीमती बोली–'बेटा ! तेरा पिता तुझे और मुझे निराधार छोड़कर दीक्षा लेगा, तब पतिहीन मुझे इस चरखे का ही तो शरण है।'

तब बालक मचलकर अपनी तोतली मिष्ट भाषा में बोला 'मेरे पिता कैसे जा सकेंगे, मैं बाँध के रख लूंगा।'

ऐसा कहकर सूत के तंतुओं से, अंदर सो रहे पिता के पैर बाँध दिए। फिर हर्षित होकर माँ से बोलाः–

'माँ, अब धीरज रखो। मैंने ऐसा बाँधा है, अब कभी नहीं जा सकेंगे।'

आर्द्रकुमार ने शीघ्रता से उठकर उस बच्चे को गाढ़ आलिंगन में लेकर स्नेहपूर्वक कहा–

'बेटा, जितने धागों से मेरे पाँव बाँधे हैं, उतने वर्ष और घर में रहूँगा।'

बाद में गिन कर बंधन तोड़ते हुए बारह बंधन हुए। अतः बारह वर्ष तक फिर से घर में रहे।

तत्पश्चात् पूर्ण वैरागी बना आर्द्रकुमार, एक दिन रात को विचार करने लगा–

'पूर्व भव में मैंने मन से ही व्रत भंग किया। उससे मैं अनार्यपना पाता हूँ। इस भव में व्रत लेकर छोड़ दिया। अब मेरी गति क्या होगी? अभी भी दीक्षा लेकर तप से आत्मा की शुद्धि करुं। तभी सद्‌गति प्राप्त हो सकेगी।'

ऐसा विचार कर प्रभात में पत्नी और पुत्र की आज्ञा लेकर साधु का वेष पहनकर घर से निकला। राजगृही नगरी की तरफ जाते हुए बीच में चोरी से आजीविका करते हुए, अपने साथ आए पांचसौ सामन्तों को देखा। उन्होंने भी पहचान लिया– वन्दन किया। आर्द्रमुनि ने उनसे कहा–

'महापाप की कारणभूत यह वृत्ति क्यों अंगीकार की?' वे बोले–

'हमें दगा देकर हे प्रभो ! जब आप चले आए, तब से लज्जा से राजा को मुख नहीं दिखाया। आप की गवेषणा में लगे हुए पृथ्वी पर परिभ्रमण करते हुए, चोरी की वृत्ति से निर्वाह करते हैं।'

तुम लोगों ने अयुक्तवृत्ति अंगीकार की। महान् पुण्य के उदय से इस मानव भव को पाकर स्वर्ग–अपवर्ग को देन वाले धर्म को अंगीकार करो। हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह का त्याग करो। हे भद्रो ! तुम स्वामी के भक्त हो। मैं पूर्ववत् तुम्हारा स्वामी हूँ। अतः मेरा ही मार्ग अंगीकार करो।'

तब वे भी बोले–

पहले आप हमारे स्वामी ही थे, अब गुरु भी हो। आपने हमें धर्ममार्ग बताया। अब हमें दीक्षा देकर अनुग्रहित कीजिए। आपका मार्ग ही हमारा मार्ग है।'

तब मुनि ने उन्हें दीक्षित किया। सब को लेकर प्रभु वीर को वन्दन करने हेतु राजगृही की तरफ आगे बढ़े। मार्ग में हस्तितापस आश्रम आया। उस आश्रम में रहे हुए तापस एक बड़े हाथी को मारकर उसका मांस खाते हुए बहुत दिन व्यतीत करते थे। उनका कहना था कि एक ही हाथी को मारना ठीक है। क्योंकि एक जीव को मारने में कइयों का निर्वाह हो जाता है। मृग, मछली आदि और धान्य से वैसा निर्वाह नहीं होता। अतः बहुत पाप होने से धान्यादि खाना युक्त नहीं। तब उन मिथ्याधर्मनिष्ठ तापसों ने, जहाँ मारने के लिए सांकलों में बांधकर, एक हाथी रखा

हुआ था, उसी मार्ग से दया के निधान वे पाँच सौ मुनियों सहित आर्द्रमुनि गए। लघुकर्मी होने से उन मुनियों को देखकर वह हाथी विचार करता है कि मैं बंधा हुआ हूँ। अन्यथा मैं भी इन मुनियों को नमस्कार करता। अभी हाथी इस तरह विचार ही कर रहा था कि मुनि-दर्शन से हाथी की सांकलें टूट गई। वह बंधन रहित हो गया। दौड़कर मुनि को वन्दनार्थ चला। मुनि की तरफ दौड़ते हाथी को देखकर लोग कोलाहल करने लगे- अरे मुनि को मारा-मुनि को मारा। ऐसा कहते भगदड़ मच गई। मुनि तो शान्त भाव से वहीं खड़े थे। हाथी वहाँ पहुँचा। अपना कुम्भस्थल झुकाकर मुनि को प्रणाम किया। सूंड के प्रसारण से मुनि के चरण स्पर्श करके परम सुख को प्राप्त हुआ। पश्चात् वहाँ से उठकर एकदम व्याकुलता रहित किसी अटवी में चला गया। मुनि के ऐसे अद्‌भुत प्रभाव को देखकर क्रोधित हुए तापस, आर्द्र मुनि के पास आए। तब उन्होंने उन तापसों को प्रतिबोधित करके भगवान महावीर स्वामीजी के पास भेजा। समवसरण में उनकी दीक्षा हुई। श्रेणिक राजा भी हाथी का छूटना और तापसों को प्रतिबोधित करने की बात जानकर अभयकुमार सहित वहाँ आया। उसने महामुनि को वन्दना की और मुनि ने धर्मलाभ दिया। पश्चात् शुद्ध भूमि पर बैठे हुए मुनि को राजा ने पूछा-

'हाथी की सांकलें टूटीं, जानकर बड़ा आश्चर्य सा हो रहा है।'

मुनि बोले-'हाथी की सांकलें टूटना मुश्किल नहीं है, किन्तु कच्चे सूत के तन्तु टूटना मुझे कठिन लगता है।'

तब राजा के पूछने पर अपना सब वृत्तान्त कहा। फिर आर्द्रकुमार मुनि अभयकुमार से बोले-

'अभय ! तुम मेरे निष्कारण उपकारी धर्मभाई बने। हे मित्र! **तुम्हारे द्वारा भेजी तीर्थंकर की प्रतिमा देखने से मुझे जातिस्मरण ज्ञान हुआ और मैं जैनधर्म में अनुरक्त हुआ।** अन्यथा मुझे धर्मप्राप्ति कहाँ होती। अनार्य देश रूपी कीचड़ में फंसे हुए, मेरा, तुमने उद्धार किया। तुम्हारे प्रसाद से ही मुझे चारित्र की प्राप्ति हुई।'

तब श्रेणिक राजा, अभयकुमार आदि सभी जन मुनि को वंदन करके प्रसन्नता से स्वस्थान गए। आर्द्रक महामुनि भी भगवान महावीरस्वामी को वन्दना कर, सेवा करते हुए, आयु पूर्ण होने पर, कर्म खपाकर मोक्ष पद को प्राप्त हुए।

महासती दमयन्ती को मिला तिलक चढ़ाने का प्रभाव

प्राचीन समय में कोशला नाम की नगरी में निषध नाम का एक न्यायवान राजा राज्य करता था। उसकी लावण्य सुन्दरी नाम की धर्मपत्नी थी। उसके दो पुत्र थे 1. नल, 2. कूबर । तथा विदेह देश के अन्तर्गत कुण्डिनपुर में अत्यन्त बलवान भीम राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम पुष्पवती था। उसको एक पुत्री उत्पन्न हुई। पूर्वकृत किसी शुभ कर्म के उदय से उस के मस्तक में एक तिलक था जिसका प्रकाश सूर्य के समान था। राजा तथा रानी ने महोत्सव पूर्वक इस का नाम दमयन्ती रखा जो कि दमयन्ती के नाम से प्रसिद्ध हुई। क्रम से बड़ी होती हुई वह धर्म, कर्म तथा कला आदि में कुशल हुई।

एक बार निर्वृत्ति देवी ने उसे सोने की बनी हुई श्री शान्तिनाथ भगवान की मूर्ति देते हुए कहा, 'हे पुत्री ! मैं तुम्हें शांतिनाथ भगवान की प्रतिमा देती हूँ। इसकी प्रतिदिन पूजा करने से तुम्हारा कल्याण होगा' वह नियमित रूप से भगवान की पूजा करने लगी।

सुन्दर रूपवाली दमयन्ती बड़ी हो गई और माता पिता को वर ढूंढने सम्बन्धी चिन्ता उत्पन्न हुई। कहा भी है, 'जब लड़की का जन्म होता है, घर में चिंता का वातावरण व्याप्त हो जाता है, उसके बड़े होने पर चिन्ताएँ भी बढ़ जाती हैं, जब विवाह योग्य होती है, तो वर की खोज सम्बन्धी चिन्ता उत्पन्न हो जाती है।'

भीम राजा ने स्वयंवर का प्रबन्ध किया। इस में अनेक राजाओं को आमंत्रित किया गया। एक दूत को निषध राजा के पास भेजा गया। उन्होंने अपने दोनों पुत्र नल और कूबर को स्वयंवर में भाग लेने के लिये भेजा। राजा भीम ने सभी बाहर से आनेवाले राजाओं महाराजाओं तथा राजकुमारों का आतिथ्य सत्कार किया। सभी राजा मंच पर विराजमान थे। उस समय दमयन्ती अपने परिवार तथा सखियों के साथ स्वयंवर मंडप में आई। दमयन्ती ने वरमाला नल के कण्ठ में डाली। निषध और भीम ने बड़े महोत्सव पूर्वक दोनों का विवाह किया। विवाह के पश्चात् निषध नरेश अपने नगर की तरफ गया।

वन में से जाते हुए रात के समय बहुत अंधकार हो गया। उस समय नल ने उसे कहा, 'हे देवी ! उठो तथा अपने तिलक को प्रकट करो जिससे अंधेरा दूर हो

जाये।' दमयंती अपने मस्तक के तिलक से प्रकाश किया। यह प्रकाश सूर्य के प्रकाश जैसा था। उस समय उन्होंने कायोत्सर्ग ध्यान में एक मुनि को देखा। उन दोनों ने उस मुनि को भक्तिपूर्वक वंदन किया। नल के पिता निषध राजा तथा दूसरे भी बहुत से मनुष्य वहाँ आ गये। सभी ने मुनि को वंदन किया। कायोत्सर्ग पारने के पश्चात् धर्मोपदेश देते हुए कहा–

पूज्यपूजा दयादानं तीर्थयात्रा जपस्तपः।

श्रुतं परोपकारश्च मर्त्यजन्म फलाष्टकम्।।

अर्थात् मनुष्य जन्म के यह आठ फल हैं 1) तीर्थंकर भगवान की पूजा, 2) दया, 3) दान, 4) तीर्थयात्रा, 5) जप, 6) तप, 7) आगम शास्त्रों का पढ़ना, 8) परोपकार।

देशना के अन्त में मुनि को नमस्कार कर पूछा–'हे मुनि ! इस प्रकार का तिलक दमयन्ती के मस्तक पर किस कर्म के उदय से हुआ है?' मुनि ने कहा, 'पूर्व भव में इसने एक-एक तीर्थंकर के चौबीस-चौबीस आयम्बिल किये थे और तप के उद्यापन में चौबीस तीर्थंकरों को तिलक किये। उस तप के प्रभाव से सूर्य से भी अधिक प्रकाश करनेवाला मस्तक में तिलक हुआ है। इस तप के प्रभाव से इस का कल्याण होगा।'

कोशला नगरी में पहुंचने पर नगरवासियों ने महोत्सव किया। नल को राज्य दिया गया, कूबर को युवराज बनाया गया तथा निषध ने दीक्षा ग्रहण की। मुनि बनने पर उग्र तपस्या करते हुए वह मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग में गया। नल ने धर्म अर्थ काम रूप त्रिवर्ग की साधना करते हुए चिरकाल पर्यन्त राज्य का पालन किया। युवराज कूबर अपने भाई से राज्य हथियाना चाहता था तथा इसी उद्देश्य से उसने नल के साथ द्यूत क्रीड़ा (जुआ) की। फलस्वरूप नल सम्पूर्ण राज्य हार गया।

राजा नल दमयन्ती के साथ वन की ओर चल पड़ा। मार्ग में पैदल चलते हुए उन्हें बहुत से कष्टों का अनुभव हुआ। दुःखी नल इस प्रकार विचार करने लगा–

एकस्तावद्वने वासः द्वितीया च दरिद्रता।
तृतीयं च प्रियापादबन्धोऽयं जायतेऽधुना।।

अर्थात्ः इस समय तीन महान् दुःख पैदा हुए है – 1) वन में रहना, 2) दरिद्रता, 3) स्त्री का साथ होना।

यदि मैं अपने हृदय को पत्थर बनाकर दमयन्ती को यहीं छोड़ दूँ तो मैं कहीं भी जा सकता हूं। दमयन्ती परम सती है, उसे कोई भी हानि नहीं पहुंचा सकता। इस प्रकार पूर्वकृतकर्मों के फलस्वरूप उसने सोई हुई दमयन्ती को छोड़ने का निश्चय किया।

फिर नल ने दमयन्ती की साड़ी के एक किनारे पर दो श्लोकों द्वारा इस प्रकार लिखा, 'हे भद्रे ! बाईं ओर का मार्ग कुंडिनपुर की तरफ जाता है और दाईं ओर का मार्ग कोशला की ओर जाता है। जहाँ तुम्हारी इच्छा हो वहाँ जाओ, मैं तो तुम्हें अपना मुख भी दिखाने योग्य नहीं हूं।' इस प्रकार के शब्द लिखकर नल अत्यन्त दुःख सहित रोता हुआ तथा अपनी पत्नी को बार-बार मुड़-मुड़कर देखता हुआ वहाँ से आगे गया तथा मन में इस प्रकार विचार करने लगा, 'हे विधाता ! तुमने दमयन्ती को रूप लावण्ययुक्त तथा अतिशय गुणवति बनाया है, परन्तु वह इस समय महान कष्टों से घिरी हुई है। यह तुमने क्या किया? हे वन के देवताओं ! उसे कोई उपद्रव न आए तथा वन में रहनेवाले हिंसक जीवों से बचाओ। इस प्रकार जिसकी पत्नी वन में अकेली सोयेगी ऐसे हे पापी नल! तुम स्वस्थ्य मन वाले कैसे बनोगे।'

आगे जाने पर नल ने वन में आग लगी हुई देखी जिस में से इस प्रकार के शब्द मनुष्य वाणी में सुनाई दिये, 'हे इक्ष्वाकुकुल शिरोमणि! हे नल राजन् ! मुझे जलती हुई दावानल से बचाओ।' तब नल ने एक जलता हुआ सर्प देखा तथा उसने कहा, 'हे महानाग ! तुम मेरा नाम कैसे जानते हो तथा मनुष्य की वाणी कैसे बोल सकते हो। तब सर्प ने कहा, 'हे महाभाग्यशाली! मैं पूर्व जन्म में मनुष्य था तथा संस्कार-वश मनुष्य की भाषा बोलता हूं।'

राजा नल ने सर्प को दावानल से बाहर निकाला। उस समय सर्प ने उसे डंक मारा तथा वह कुबडा बन गया। नल ने अपनी ऐसी अवस्था देखकर दीक्षा ग्रहण करने का निश्चय किया। सर्प ने अपना रूप बदलकर देव रूप में प्रकट होकर इस प्रकार कहा, ' हे वत्स ! मैं तुम्हारा पिता निषध हूं और मृत्यु के पश्चात् पाँचवे देवलोक में गया हूँ। मैंने ही तुम्हारे रूप को विकृत किया है। पूर्वकृत कर्म के उदय से कुछ समय तक तुम पर एक विपत्ति आयेगी और उसके बाद तीन खण्ड राज्य की प्राप्ति भी होगी। जब दीक्षा का समय आएगा तब मैं आप को बतला दूँगा।

फिर देवने एक श्रीफल और रत्न पिटारी देते हुए कहा, 'श्रीफल में दिव्य वस्त्र

हैं और रत्नपिटारी में आभूषण हैं। इनके पहनने से तुम्हारा असली रूप प्रकट होगा।'

सुसुमारपुर नगर में दधिपर्ण राजा राज्य करता था। तब नल वेषधारी कुबड़ा वहाँ पहुँचा तब वहाँ पर एक मदोन्मत्त हाथी वृक्षों को उखाड़ रहा था तथा मनुष्यों को कुचल रहा था। राजा ने इस प्रकार की उद्घोषणा की कि जो भी कोई व्यक्ति हाथी को वश में करेगा, उसे मानसम्मान सहित अपार सम्पत्ति दी जाएगी। कुबड़े ने हाथी को वश में कर लिया। राजा ने उसके गले में रत्नमाला डाली तथा अपार धन सम्पत्ति भी दी।

राजा के पूछने पर कुबड़े ने अपना परिचय इस प्रकार से दिया, 'मेरी जन्मभूमि कोशला है। वहाँ पर मैं राजा नल का हुंडिक नाम का रसोइया था। मैं सूर्यपाकी भोजन भी तैयार कर लेता हूँ।' एक दिन सूर्यपाकी भोजन तैयार करके राजा को खिलाया। राजा ने प्रसन्न होकर मुझे पाँच सौ गाँव दिये।

एक बार कुबड़ा तालाब के किनारे पर वृक्ष की छाया में बैठा हुआ था। उस समय एक व्यक्ति दूसरे देश से वहाँ पर आया और उसे देखकर कहने लगा 'मैं ऐसा मानता हूँ कि इस की रेखाएँ नल की ही हैं जिसने दमयन्ती को वन में अकेली सोई हुई को छोड़ा।' यह सुनकर कुबड़े ने कहा, 'तुमने इस बात को बहुत बढ़िया कहा है। तुमने नल का वृत्तान्त कहाँ से सुना है? वह व्यक्ति कहने लगा 'मैं कुंडिनपुर नगर में गया था। वहाँ दमयन्ती के मुख से ही सुना था। जिस रात नल ने सोई हुई दमयन्ती को वन में छोड़ा उसी रात उसने एक स्वप्न देखा कि वह आम को खाने के लिए वृक्ष पर चढ़ी है और नीचे से एक हाथी ने अपनी सूंड से वृक्ष को उखाड़ दिया और वह नीचे गिर गई।'

प्रातः उठने पर दमयन्ती ने अपने आप को अकेली पाया। वह अत्यन्त व्याकुल हो गई और अपने भाग्य पर क्रन्दन करने लगी। रोती, चिल्लाती नल को ढूंढती हुई थक गई और जब अपनी साड़ी के आंचल से आंसू पोंछने लगी तो उस ने वह दोनों श्लोक पढ़े, इससे उसे वास्तविक स्थिति अवगत हुई।

दमयन्ती कोशला की ओर चल पड़ी, मार्ग जंगली जानवरों से परिपूर्ण था। कहीं पर व्याघ्र थे तो कहीं पर सर्प, परन्तु उसका कोई कुछ न बिगाड़ सका। मार्ग पर चलते हुए उसे एक सार्थ मिला। उसे लुटने के लिये वहाँ डाकू पहुँच गये।

दमयन्ती ने इन डाकुओं से कहा 'यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो यहाँ से चले जाओ।' डाकुओं ने उसे कोई पागल स्त्री समझा। तब दमयन्ती ने एक भयंकर हुंकार की, डाकुओं को ऐसा प्रतीत हुआ मानो भयंकर वज्रपात हुआ हो। जैसे धनुष का शब्द सुनकर कौवे भाग जाते हैं उसी प्रकार दमयन्ती का शब्द सुनकर डाकू भाग गये। इस घटना से सार्थ बहुत प्रभावित हुआ और उसको भोजन आदि दिया।

कुछ दूर जाने पर उसे एक भयंकर राक्षस मिला। वह अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में कहने लगा, 'मैं बहुत दिनों से भूखा हूँ और तुम्हें खाकर अपनी क्षुधा शान्त करूंगा।' पहले तो दमयन्ती कुछ घबराई परन्तु फिर कहने लगी, 'हे राक्षस ! पहले मेरी बात सुन लो, बाद में जैसी मर्जी हो वैसा करना। मेरे मन में अरिहन्त धर्म बसा हुआ है अतः मैं मृत्यु से नहीं डरती। मैं परस्त्री हूं, यदि तूने मुझे स्पर्श किया तो भयंकर विपत्ति में फंस जाओगे।' उसके वचनों से राक्षस का मन परिवर्तित हो गया। वह कहने लगा, 'हे यशस्विनी ! आप का पति आप से अलग होने पर ठीक बारह वर्ष पश्चात् आपके पिताजी के घर में मिलेगा।'

दमयन्ती ने अपने मायके जाने का विचार छोड़ दिया। उसने लगभग सात वर्ष किसी गुफा में व्यतीत किये। उस समय उसने प्रतिज्ञा की कि जब तक पतिदेव न मिले तब तक रंगे हुए वस्त्र, आभूषण तथा छः प्रकार के विनय का त्याग करूंगी।

गुफा में सात वर्ष रहने के पश्चात् एक बार वह गुफा से बाहर चली गई परन्तु मार्ग भूलने के कारण वह पुनः गुफा में न आ सकी। मार्ग की कठिनाईयों को सहती हुई वह अचलपुर पहुँच गई। अचलपुर के नरेश की रानी चन्द्रयशा दमयन्ती की सगी मौसी थी परन्तु वह यह नहीं जानती थी। दमयन्ती राजा की दानशाला में रहने लगी।

जब राजा भीमरथ को नल-दमयन्ती सम्बन्धी समाचार मिला तो उसने दमयन्ती की खोज में अपने दूत कई स्थानों में भेजे। एक दूत अचलपुर में भी आया और उसने दमयन्ती का पता लगा लिया। वह उसे भीमरथ राजा के पास ले गया।

एक बार राजा दधिपर्ण ने अपने एक दूत को किसी आवश्यक काम से राजा भीमरथ के पास भेजा। उस दूत ने कुबड़े के सम्बन्ध में सब कुछ बता दिया। दमयन्ती पास में ही बैठी हुई थी तथा उसे विश्वास हो गया कि वह कुबड़ा ही नल है। उसने अपने पिता को प्रेरणा दी कि उसे यहाँ लाया जाए जिससे उसकी जांच हो जाए। राजा इस बात पर सहमत हो गया।

राजा भीमरथ ने नरेश दधिपर्ण को एक संदेश भेजा जिस में कहा गया कि 'दमयन्ती का पुनः स्वयंवर हो रहा है। संदेश स्वयंवर के केवल एक दिन पहले पहुँचा। दधिपर्ण के लिए एक दिन में कोशला देश से कुण्डिनपुर पहुँचना असंभव था। कुबडे ने बताया कि मैं आप को समय से पूर्व ही आप के निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचा दूंगा। उसने श्रीफल और रत्नपिटारी अपने साथ ली और दो अच्छे घोड़े लेकर रथ को बहुत तीव्र गति से चलाकर समय से पूर्व ही कुण्डिनपुर पहुँच गया। भीमरथ ने दधिपर्ण को कहा, 'राजन् ! मैने आप को जिस कार्य के लिये बुलाया है उसकी बात तो बाद में करेंगे, इस समय मैं आपके पास किसी अन्य काम से आया हूँ। आपके साथ जो कुबड़ा आया है वह सूर्यपाकी है, मैं उसकी विद्या का चमत्कार देखना चाहता हूँ। महलों में रानियां भी इसके लिये उत्सुक हैं।'

भीमरथ उसे सम्मानपूर्वक महल में ले गया जहाँ पर सूर्यपाकी भोजन तैयार करवाया गया। दमयन्ती ने स्वाद चखते ही अपना संशय दूर कर दिया और उसे विश्वास हो गया कि कुबड़ा वेषधारी राजा नल ही हैं। फिर दमयन्ती ने अपने पिता से कहा–'इस सूर्यपाकी भोजन के अतिरिक्त एक और भी परीक्षा है जिससे मैं उन की तुरन्त पहचान कर सकती हूँ। मेरे किसी भी अंग का स्पर्श करते ही मेरा संपूर्ण शरीर रोमांचित हो जाता है। यदि वे नल होंगे तो मैं पहचान लूंगी।'

कुबड़े ने अनेक प्रकार के बहाने बनाए परन्तु राजा भीमरथ का प्रस्ताव स्वीकार करना पड़ा। उसने अपनी उंगली से दमयन्ती का ललाट का स्पर्श किया जिसके फलस्वरूप उसका सम्पूर्ण शरीर रोमांचित हो गया। फलस्वरूप उसने अपना असली रूप प्रकट किया जिससे परिवार में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। फिर नल ने अपने भाई कूबर से भी अपना राज्य वापिस ले लिया। नल ने राज्य ग्रहण करने के पश्चात् अपने भाई को युवराज बनाया।

फिर पंचम देवलोक से आकर निषध देव ने कहा, 'हे नल, यह राज्य नरक देने वाला है अतः संयम ग्रहण करो।' उसने अपने पुत्र पुष्कल को राजा बनाया तथा स्वयं दीक्षा ग्रहण की। दमयन्ती ने भी दीक्षा अंगीकार की। निषध देव ने उसे संयम में दृढ़ किया तथा मृत्यु के पश्चात् कुबेर नामवाला देव बना। देव भव से च्यव कर मनुष्य जन्म प्राप्त कर मोक्ष में गया। दमयन्ती साध्वी धर्म का पालन करती हुई मरणोपरान्त कुबेर देव की देवी बनी। वहाँ से च्यव कर मनुष्य जन्म पाकर मोक्ष में गई।

महाराजा संप्रति द्वारा सवा क्रोड जिनमन्दिर निर्माण

सम्राट अशोक का पौत्र सम्राट संप्रति जगत के सर्वकालीन महान राजाओं में गौरवमय स्थान को प्राप्त हैं। सम्राट अशोक और उनके पौत्र संप्रति ने भारतीय संस्कृति को विश्व संस्कृति बनाने का भगीरथ प्रयास किया था। इन्द्रपालित, संगत और विगतशोक जैसे अन्य उपमानधारक सम्राट संप्रति मौर्य थे, परंतु उससे, पूर्व एक दशक से वे राज्य की धुरा संभालते थे।

एक बार संप्रति राजा अपने महल के झरोखे में बैठे हुए थे। राजमार्ग पर से जाते हुए आचार्य सुहस्तिसूरिजी म.सा., को देखते ही संप्रति महाराजा को ऐसा अनुभव हुआ कि मानो वे इन साधु पुरुष के वर्षों से परिचित हैं। धीरे-धीरे पूर्व जन्म के स्मरण संप्रति राजा के चित्त में उभरने लगे। महल से नीचे उतरकर आचार्यश्री के पास जाकर चरणों में नतमस्तक हुए और उन्होंने गुरु महाराज को महल में पधारने हेतु निवेदन किया।

इसके बाद राजा संप्रति ने प्रश्न किया कि आपको देखकर मुझे ऐसा लगता है कि मानो आपके साथ मेरा वर्षों से गाढ़ परिचय हो! ऐसा क्यों होता होगा?

ज्ञानी आचार्य सुहस्तिसूरि ने उसका रहस्य समझाते हुए कहा कि तू पूर्व जन्म में मेरा शिष्य था। एक बार कोशांबी नगरी में भीषण दुष्काल पड़ा था, फिर भी श्रावक गण साधुओं की उत्साह सहित वैयावच्च करते थे। उस समय गरीब भिखारी की स्थिति वाले संप्रति को रोटी का टुकड़ा भी नहीं मिलता था। उसने साधुओं के पास भिक्षा मांगी तब ख्याल आया कि यदि वह दीक्षा ले, तभी वे साधु उसे उनका भोजन दे सकते हैं। संप्रति ने दीक्षा ली। डटकर भोजन किया। इसके बाद अंतिम समय में साधु संप्रति का समाधि मरण हुआ तब गुरुदेव ने उसे नवकार महामंत्र सुनाया था।

यह सुनकर हर्षित बने हुए महाराजा संप्रति ने अपना राज्य आचार्य सुहस्तिसूरि के चरणों में सुपूर्द किया, परंतु अपरिग्रहधारी विरक्त मुनि भला राज्य का क्या करें? आचार्यश्री ने उसे जैन धर्म का उपेदश दिया। राजा संप्रति धर्म के सच्चे आराधक और महान् प्रभावक बने। भारत की सीमा से परे जैन धर्म का प्रचार किया। गुरुदेव के पूर्व जन्म के और इस जन्म के उपकारों को संप्रति ने शिरोधार्य किया। अपने जीवन काल में उन्होंने अनार्य देशों में जैन साधुओं को धर्म प्रचार के लिये भेजा । गरीबों को निःशुल्क भोजन देने वाली दानशालाएँ खुलवाई। जैन विहारों का निर्माण किया।

एक बार युद्ध में विजय बनकर राजा संप्रति अपनी राजधानी उज्जयिनी में लौटे। चारों और हर्षोल्लास का वातावरण था, परंतु महाराजा संप्रति की माता कंचनमाला के चेहरे पर घोर विषाद एवं निराशा के बादल छाए हुए थे।

महाराजा संप्रति ने माता के पास आकर प्रणाम करके व्यथा का कारण पूछा कि 'हे माता! आज मेरी विजय से सारा नगर हर्षोल्लास में डुबा हुआ है, तब तू क्यों शोक मग्न लग रही है? पुत्र जब कमाई करके घर आता है, तब माता हर्षित होती है, जबकि मैं तो भारत के तीन खंडों पर विजयी होकर लौटा हूँ फिर भी तुझे हर्ष क्यों नहीं है?' संप्रति राजा मानते थे कि मुझे देखकर संपूर्ण जगत भले ही खुश होता हो, परन्तु मेरी माता ही खुश न होती हो तो अन्य सभी का हर्ष मेरे लिये निरर्थक है। कैसी मातृभक्ति है?

यह माता परम श्रद्धालु श्राविका थी, अतः दुनिया से निराली थी। दुनिया पुत्र के देह को देखती है, जबकि श्राविका उसकी आत्मा को देखती है।

विवेकी माता कहती है, 'हे पुत्र ! राज्य तो तेरी आत्मा को नरक में ले जाने वाला है। तेरे जन्म-मरण के दुःखों में वृद्धि करनेवाला है। मैं यदि तेरी सच्ची जनेता हूँ, तो ऐसे राज्य की कमाई से मुझे हर्ष कैसे हो सकता है? मुझे हर्ष तब होगा, जब तू जिस पृथ्वी को जीतकर आया है, उस समग्र पृथ्वी को जिनालयों से सुशोभित कर देगा! तेरी सम्पत्ति से गाँव-गाँव में जिन-मंदिर खड़े कर देगा और उन्हें देखकर सारी दुनिया आनंदित हो उठे!'

कैसी होगी ये राजमाता! बचपन से ही उन्होंने अपने पुत्र को कैसे संस्कार दिये होंगे? उन पवित्र संस्कारों का पान करनेवाले सुपुत्र माता को शोकमग्न रहने दे क्या? उसकी इच्छाओं का अनादर करे क्या? कदापि नहीं।

संप्रति महाराजा ने माता के मुख से निकलते हुए वचन शिरोधार्य किये और वहीं पर संकल्प कर लिया 'सारी पृथ्वी को जिनमंदिरों से मंडित कर देने का!' ज्योतिषियों को बुलवाया और अपना आयुष्य पूछा। उत्तर मिला 'राजन् ! आपका आयुष्य अभी तो 100 वर्ष शेष है।'

'100 वर्ष के दिन कितने?' 'राजन् ! 36 हजार।'

फिर नित्य का एक जिनमंदिर बँधवाने का संकल्प करके संप्रति महाराजा ने पृथ्वी को मंदिरों से मंडित करने का कार्य प्रारंभ किया। प्रतिदिन एक जिनालय के खनन मुहूर्त होने के समाचार सुनने के पश्चात् ही माता को प्रणाम करके भोजन

करते थे। माता भी हर्षित होकर सदैव पुत्र की ललाट पर तिलक करके मंगल करती थी।

इस प्रकार संप्रति महाराजा ने 36 हजार नए जिनालय बनवाए और 89 हजार जिन मंदिरों का जीर्णोद्धार करवाया। उन्होंने कुल मिलाकर सवा लाख जिन मंदिर बनवाए और सवा करोड़ जिन प्रतिमाएँ भी भरवाई। इसके अतिरिक्त अपने राज्य में कोई भी जीव भूखा या दुःखी न रहे, उसके लिये 700 दानशालाएँ शुरु करवाई।

संप्रति महाराजा ने कई व्यक्तियों को साधु के आचार सिखाकर साधु का वेश पहनाकर अनार्य देश में भी भेजे। उनके द्वारा अनार्य लोगों को भी साधु के आचारों से अवगत करवाया और उसके बाद वहाँ भी सच्चे साधुओं का विहार करवाया।

महाराजा संप्रति अपने दादा सम्राट अशोक की तरह प्रजावत्सल, शांतिप्रिय, अहिंसा के अनुरागी और प्रतापी सम्राट थे! महाराजा संप्रति को पिता कुणाल और माता कंचनमाला से सुन्दर धार्मिक संस्कार प्राप्त हुए थे। अपने धर्मगुरु आचार्य श्री सुहस्तिसूरि के उपदेश के कारण आदर्श जैन राजा की तरह उन्होंने जीवन यापन किया था। सम्राट संप्रति के भव्य जीवन की गाथा 'संप्रति कथा', 'परिशिष्ट पर्व' और 'प्रभावक चरित्र' जैसे जैन ग्रंथों में वर्णित है। विख्यात इतिहासविद् विन्सेन्ट स्मिथ के कथनानुसार महाराजा संप्रति ने ईरान और अरबस्तान जैसे देशों तक जैन संस्कृति के केन्द्र स्थापित किये थे। संप्रति राजा सम्यक्त्व सह जिनधर्म का पालन करके स्वर्ग में सिधारे और अनुक्रम से मोक्ष गमन करेंगे। इस प्रकार संप्रति महाराजा ने अपना जन्म सफल किया। धन्य माता! धन्य पुत्र !

एक भिखारी में से महान् ऋद्धि सिद्धी के अधिकारी बने हुए महाराजा संप्रति की इस कथा से तीन शिक्षाएं मिलती हैं। 1. एक दिन के दीक्षा पालन का कैसा प्रभाव है? कि उसके बल से वह भिखारी में से महाराजा बना। 2. संप्रति राजा माता के प्रति कैसे विनयी थे कि उन्होंने तुरन्त ही उनकी आज्ञा शिरोधार्य की और 3. तीसरी बात यह है कि जैन धर्म के प्रति कैसा अनुराग कि पृथ्वी को उन्होंने जिनमंदिरों से मंडित कर दी और विदेशों में भी जैन धर्म का बहुत प्रचार किया।

ओसवाल वंश और मूर्तिपूजा

ओसवाल वंश की उत्पत्ति समय में सब ही ओसवाल जैन मूर्तिपूजक मान्यता वाले थे।

प्रश्न – क्या यह बात सच है कि ओसवाल ज्ञाति के सभी जैन शुरु में मूर्तिपूजक थे?

उत्तर – भगवान श्री महावीर–वर्धमान प्रभु के निर्वाण के बाद वीर संवत् 0052 (बावन) में **आचार्यदेव श्री रत्नप्रभसूरीश्वरजी महाराज** हुए। वे महान शासन–प्रभावक आचार्य थे तथा पाँच सौ शिष्यों के गुरुवर थे। इन प्रखर विद्वान पूज्य संत ने वीर संवत् 70 में राजस्थान के **ओसियां** नगर में करीब तीन लाख पैतालीस हजार लोगों को जैन धर्मानुयायी बनाया। (यह घटना ओसिया नगर में हुई थी अतः वे जैन ओसवाल कहलाये।) उन महाप्रभावशाली आचार्यदेव ने उन लोगों को शराब–माँस, शिकार–व्यभिचार आदि दुर्गुणों से मुक्त कराकर उन्हें जैन बनाया। ओसवालवंश की स्थापना के दिन ही उन पूज्य गुरुवर, के सदुपदेश से श्री वर्धमान–महावीरस्वामी प्रभु के मंदिर की नींव डाली गई थी। आज भी यह मंदिर ओसिया नगरी में विद्यमान है। ओसवाल जाति के लोगों पर इन पूज्यआद्य गुरुदेव का बहुत बड़ा उपकार है। वर्तमान समय में गुजरात, महाराष्ट्र, कर्णाटक, तमिलनाडु, कच्छ आदि राज्यों में जो ओसवाल जाति के लोग हैं उनके पूर्वज इसी परंपरा के थे। इन मूर्तिपूजक आचार्यदेव ने छः मास की अखंड तपस्या की थी तथा वे आलू–प्याज आदि कंदमूल के सर्वथा त्याग के उपदेशक थे। दीक्षा ग्रहण करते समय उन्होंने भगवान श्री पार्श्वनाथ प्रभु की मूर्ति–प्रतिमाजी अपने साथ रखी थी। इन आचार्यदेव के भव्य गुरुमंदिर ओसिया, जीरण, गोमती तथा चोराया में हैं। इन पूज्य आचार्यदेव के रजोहरण की डंडी छोटी थी, मुँहपत्ती वे हाथ में रखते थे तथा मंदिर मूर्ति के परम उपासक थे और साथ साथ महान उपदेशक भी थे। अब तो तेरापंथ के प्रमुख आचार्य ने भी गुरुमूर्ति–गुरु की प्रतिमा की आवश्यकता का खुलंखुल्ला–स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। तो स्थानकवासी परंपरावाले भी एक या दूसरे रूप से स्थापना निक्षेपा की और जिनवर मूर्ति की भी भरपूर मान्यतावाले बन चुके हैं।

महाराजा श्रेणिक द्वारा जिनालय निर्माण

उस काल में उस समय में श्रमण भगवान श्री महावीर-वर्धमान देव राजगृही नगरी में विचरण कर रहे थे। 'बिंबसार' ऐसा दूसरा नाम धारण करने वाले राजा श्रेणिक महारानी चेलना की सद्प्रेरणा से भगवान महावीर के श्रमणोपासक सुश्रावक थे। वे न्याय-नीति के ज्ञाता थे। पहले भी पार्श्वनाथ प्रभु के चरणद्वय से पावन तथा निर्ग्रंथ साधु और निर्ग्रंथिनी साध्वीयों द्वारा सेवित कलिंग नामक जनपद के मंडण-तीर्थस्वरूप कुमार गिरि और कुमारी गिरि नामक दो पर्वतों पर उन **श्रेष्ठ राजवी श्रेणिक ने श्री ऋषभदेव जिनाधिपति का अत्यन्त मनोहर जिनप्रासद अर्थात् जिनमंदिर का निर्माण किया था। भगवान्-ऋषभदेव की सुवर्ण प्रतिमा का निर्माण करवाकर उन्होंने प्रभु श्री महावीर-वर्धमानस्वामी के पंचम गणधर श्री सुधर्मास्वामी गणधर के करकमलों से उसकी प्रतिष्ठा उस जिनमंदिर में करवाई थी।** उसी काल में उन नरश्रेष्ठ राजा श्रेणिक ने निर्ग्रंथ साधु और निर्ग्रंथिनी साध्वीयों के वर्षावास के लिए उन दोनों पर्वतों पर अनेक गिरिपाषाणगृह अर्थात् गुफाओं का निर्माण भी करवाया था। वहाँ रहकर अनेक निर्ग्रंथ साधु-साध्वीयाँ धर्म जागरण करते हुए और अत्यंत सुखपूर्वक ध्यान एवं अध्ययन सहित विभिन्न प्रकार की तपश्चर्या करते हुए वर्षावास करते थे।

श्रेणिक राजा का एक अजातशत्रु नामक पुत्र था जिसका दूसरा नाम कोणिक था। पिता का शत्रु बनकर उसने अपने पिता को कारावास में बंदी बनाकर रखा था और स्वयं चंपा नामक नूतन नगरी बसाकर वहाँ राज्य करता था। वह भी अपने पिता की तरह जिनधर्म का आराधक एवं उत्कृष्ट कोटि का श्रमणोपासक था। उसने भी तीर्थस्वरूप कुमार-कुमारी दोनों पर्वतों पर अपने नाम की पाँच गुफाओं का निर्माण करवाया था। परंतु बाद में अत्यंत लोभ तथा अभिमान से पीड़ित, चक्रवर्तीपद की कामना करनेवाला वह राजा अजातशत्रु कृतमाल देव के हाथों मारा गया और नरक में गया।

प्रभु महावीरस्वामी के निर्वाण के बाद सत्तर वर्ष बाद प्रभुश्री पार्श्वनाथ भगवान की छठी पाठ पर रत्नप्रभ नामक आचार्य हुए। उन्होंने उपकेश नगर में एक लाख अस्सी हजार क्षत्रियपुत्रों को प्रतिबोधित किया। जैन धर्म प्राप्त करने के पश्चात् उन्होंने उपकेश नामक वंश की स्थापना की। वीर निर्वाण से इकतीस वर्ष बाद कोणिकराजा के पुत्र उदायी ने पाटलीपुत्र नगर बसाया और वह मगधदेश पर शासन

करता रहा। राजा उदायी की जैनधर्म की अत्यंत दृढ एवं गहन श्रद्धा को देखकर उसके किसी शत्रु के निर्ग्रंथ का वेश धारणकर धर्मकथा सुनाने के बहाने उसके आवास में एकांत में जाकर उसकी हत्या कर दी।

श्रमण भगवान महावीर के निर्वाण के साठ वर्ष बाद नंद नामक एक नाई के पुत्र को मंत्रियों ने पाटलीपुत्र के राजा के रूप में स्थापित किया। उसके वंश में क्रमशः नव नंद राजा हुए। आठवाँ नंद राजा अत्यंत लोभी था। मिथ्यात्व से अंध उस राजा ने वैराचन नामक ब्राह्मण मंत्री की प्रेरणा से कलिंग देश पर आक्रमण किया और उस पर विजय प्राप्तकर **तीर्थस्वरूप कुमार गिरि पर श्रेणिक राजा द्वारा निर्मित श्री ऋषभदेव का जिनप्रासद नष्टकर दिया और वहाँ से वह भगवान श्री युगादिदेव ऋषभदेव की सुवर्ण प्रतिमा अपने नगर पाटलीपुत्र ले गया।** तत्पश्चात् एक सौ चौवन वर्ष बाद चंद्रगुप्त मौर्य ने, जो कि चाणक्य का बहुत सम्मान करता था, नववें नंद राजा (धनानंद) को पाटलीपुत्र से निष्कासित किया और स्वयं मगध का राजा बना। चंद्रगुप्त मौर्य पहले मिथ्यात्वी एवं बौद्धधर्म का अनुयायी था। जैन श्रमण निर्ग्रंथों के प्रति भी उसके मन में द्वेषभाव था, परंतु बाद में चाणक्य के समागम के कारण जिनधर्म के प्रति दृढ़ आस्थावान बना। अत्यंत पराक्रमी सम्राट चंद्रगुप्त ने युनान देश के शासक राजा सेल्युकस के साथ मित्रता स्थापित की थी। उसने अपने साम्राज्य का बहुत विस्तार किया। अपने राज्य में उसने मौर्य संवत्सर आरंभ करवाया था। और वीर निर्वाण के बाद 184 वर्ष के बाद सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य की मृत्यु हुई।

चंद्रगुप्त की मृत्यु के बाद उसका पुत्र बिन्दुसार मगध देश का राजा बना। वह जैन धर्म का आराधक श्रेष्ठ श्रावक था। 25 वर्ष तक उसने शासन किया तथा वीर सं. 209 में उसका धर्माराधनापूर्वक स्वर्गवास हुआ। वीर सं. 209 मं बिन्दुसार का पुत्र अशोक पाटलीपुत्र के राज्यासन पर आरुढ़ हुआ। सम्राट अशोक पहले जैन धर्मानुयायी था परंतु, बाद में राज्य का लाभ या लोभ वश चार वर्ष बाद बौद्ध साधुओं के परिचय में आकर भगवान बुद्ध द्वारा प्ररूपित धर्म का आराधक बना। उसने अपना दूसरा नाम 'प्रियदर्शी' रखा और वह बुद्ध प्ररुपित धर्म का आराधक बना। पृथ्वी पर विचरण करते हुए उसने कलिंग, महाराष्ट्र, सौराष्ट्र आदि देश पर अत्यंत पराक्रमपूर्वक विजय प्राप्त किया। इन देशों में उसने बौद्ध धर्म का प्रचार किया, अनेक बौद्ध श्रमण-श्रमणीयों के वर्षावास हेतु अनेक गुफाओं का निर्माण किया, विविध मुद्राओंवाली भगवान बुद्ध की प्रतिमाओं की स्थापना की। उज्जयंत

अर्थात् गिरनार पर्वत पर एवं अन्य स्थानों में स्तूपों (स्मृति स्तंभ), शिलाओं आदि पर अपने नाम से अलंकृत आज्ञालेख आदि भी निर्मित किये। सीहल, चीण, बंभा (सिंहलदेश अर्थात् श्रीलंका, चीन, ब्रह्मदेश) आदि देशों में बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु पाटलीपुत्र नगर में बौद्ध श्रमणों का सम्मेलन आयोजित करके बौद्ध मतानुयायी श्रमणों को वहाँ भेजा। जैन धर्म अनुसरण करने वाले निर्ग्रंथ साधु-साध्वीयों का भी वह आदर-सत्कार करता था।... उनके प्रति उसने कभी द्वेषभाव धारण नहीं किया था।

सम्राट अशोक के अनेक पुत्र थे। उन पुत्रों में से कुणाल नामक एक पुत्र राजा बनने के लिए योग्य था। कुणाल के प्रति विमाता के मन में द्वेषभाव है ऐसा जानने पर सम्राट अशोक ने कुणाल को स्वयं से दूर, अपने कुछ प्रधानों के साथ अवंती नगरी में रखा था। परंतु विमाता ने छल कपट से उसे अंध बनाया था। यह अनर्थ ज्ञात होने पर अशोक अत्यंत क्रोधित हुआ और उसने अपनी उस रानी तथा अन्य अनेक राजकुमारों को मृत्युदंड दिया। कुणाल के पुत्र संप्रति को राजसिंहासन पर स्थापित करने के बाद वीर संवत् 240 में सम्राट अशोक की मृत्यु हुई। पाटलीपुत्र में अपने अनेक शत्रु हैं ऐसा पता लगने पर राजा संप्रति ने पाटलीपुत्र छोड़कर अपने पितामह सम्राट अशोक से पिता कुणाल के प्राप्त ऐसा अवंती नगरी में निवास किया और वहाँ से वह सुखपूर्वक शासन करता रहा। राजा संप्रति का जीव पूर्व भव में एक रंक-दरिद्री था। भोजन प्राप्त करने की इच्छा से उसने आर्य सुहस्तिसूरि महाराज के पास दीक्षा ग्रहण की थी। अव्यक्त सामायिकयुक्त वह रंक एक दिन श्रमणत्व का पालनकर कुणाल के पुत्र संप्रति के रूप में जन्म पाया था।

राजा खारवेल द्वारा तीर्थ निर्माण

'हिमवंत स्थविरावली' के वर्णन के अनुसार महामेघवान राजा खारवेल विशाला नगरी के गणतंत्र राज्य के प्रमुख, परमार्हतोपासक महाराजा चेटक का वंशज था। महाराजा चेटक तथा मगध-सम्राट कोणिक के बीच युद्ध हुआ था। पराजित महाराजा चेटक ने अनशनपूर्वक देहत्याग किया। इस समय महाराजा चेटक का पुत्र शोभनराय वहाँ से भाग गया। उसने कलिंग के, उस समय के राजा सुलोचन के पास आश्रय लिया। **कलिंग के राजा भगवान श्रीपार्श्वनाथ के उपासक थे।** कलिंगनरेश सुलोचनराय ने अपनी कन्या एवं राज्य दोनों शोभनराय को दिये। सुलोचनराय की मृत्यु के बाद शोभनराय कलिंगाधिपति बना। वीर सं. 18 में कनकपुर में उसका राज्याभिषेक हुआ। शोभनराय भी अपने पिता की भांति परम जैन धर्मानुयायी था। कलिंगदेश में स्थित **शत्रुंजय के अवतार स्वरूप कुमारगिरि तथा उज्जयंत के अवतार कुमारीगिरि तीर्थ पर वह यात्रा हेतु गया।** यहाँ महाराजा श्रेणिक के समकालीन राजा सुलोचनराय ने श्रमणों के ध्यानादि हेतु पाँच गुफाओं का निर्माण करवाया था और तीर्थपति श्री महावीर-वर्धमानस्वामी के पाँचवे गणधर **श्री सुधर्मास्वामी के हाथों भगवान ऋषभदेव की सुवर्ण की प्रतिमा की प्रतिष्ठा करवाई थी।** अतः यह स्थान तीर्थरूप तो था ही, उसमें शोभनराय ने उसकी महिमा में वृद्धि करके उसका खूब प्रचार किया।

इस शोभनराय की पाँचवी पीढ़ी में कलिंग के राजसिंहासन पर वीर सं. 149 में चंडराय आया। उसके समय में मगध के नंदवंश के आठवें राजा महानंद ने कलिंग पर आक्रमण किया था, जिस युद्ध में कलिंग देश बुरी तरह से पराजित हुआ, देश बर्बाद हो गया, परंतु स्वातंत्र्यप्रिय कलिंगदेश की प्रजा की स्वतंत्रता की तमन्ना उतनी ही दृढ़ थी। क्रोधित होकर नंदराजा कुमारगिरि पर स्थित जैन मंदिर को ध्वस्थ कर युगादिदेव भगवान श्री ऋषभदेव की मूर्ति को, जो सुवर्ण की थी, पाटलीपुत्र ले गया।

इसके बाद वीर सं. 227 में शोभनराय की आठवीं पीढ़ी का क्षेमराज कलिंग का राजा बना। क्षेमराज पाटलीपुत्र के शासन के अधीनस्थ न रहकर स्वतंत्र हो गया। अतः मगध सम्राट अशोक ने पुनः कलिंग पर आक्रमण किया। कलिंग की सेना ने भी उसका बड़ी वीरता के साथ सामना किया और उसे पराजय की स्थिति तक पहुँचाया। परंतु सम्राट अशोक ने भी अधिक जोश के साथ मगध की संपूर्ण

सेना को युद्धभूमि में उतारा। कलिंग की सम्पत्ति लूट ली। यह घटना वीर संवत् 239 की है। कलिंगराज को पराजित करने के बाद अशोक ने यहाँ मौर्य संवत् शुरू किया।

भारतीय इतिहासकार एवं बौद्ध ग्रंथ लिखते हैं कि अशोक के हाथों यह महाभयंकर मानवसंहार अंतिम था। कलिंग की प्रजा के वीरता पूर्ण बलिदान और उससे सर्जित करुण दृश्यों को देखकर उसका हृदय द्रवित हो उठा। उसने कलिंग को उसकी स्वतंत्रता वापस दी तथा अपनी राज्यविस्तार की महत्वाकांक्षा से होने वाले ऐसे युद्ध बंद कर दिये।

क्षेमराज का पुत्र वृद्धराज वीर सं. 275 में कलिंग राज्यसिंहासन पर बैठा। उस समय कलिंग में शांति थी। वृद्धराज ने कलिंग के तीर्थ स्वरुप कुमारगिरि और कुमारीगिरि पर जैन श्रमण–निर्ग्रंथों तथा श्रमणियों के लिए वर्षावास रहने के लिये 11 गुफाओं का निर्माण करवाकर उन तीर्थों को पुनः चेतनवंत बनाया। वीर सं. 300 में उसका पुत्र भिक्खुराय कलिंग का राजा बना। वह भी अपने पूर्वजों की तरह परम जैनधर्मी तथा महाप्रतापी था। उसके तीन नाम प्रसिद्ध हैं :

1. **भिक्खुराय –** जैन निर्ग्रंथ श्रमणों का परम भक्त होने के कारण उसे भिक्खुराज कहते थे।
2. **महामेघवाहन –** पूर्वजों से परंपरा के रूप में महामेघ के समान हाथी का वाहन होने के कारण वह मेघवाहन कहलाता था। कुमारगिरि की एक गुफा में उसने हाथी की आकृति उत्कीर्ण करवाई थी। आज भी वह गुफा हाथीगुफा के नाम से प्रसिद्ध है।
3. **खारवेलाधिपति –** उसकी राजधानी समुद्रतट पर होने के कारण एवं उसके राज्य की सीमा समुद्र पर्यंत होने के कारण वह खारवेलाधिपति कहलाता था।

इस भिक्खुराय ने मगध के राजा पुष्यमित्र को पराजित किया था, मगध के शासक कई बार कलिंग को लूटकर जो संपत्ति ले गये थे उसे पुनः प्राप्त कर ली थी, **आठवां नंद राजा श्रीऋषभदेव भगवान की जो सुवर्ण की प्रतिमा उठा ले गया था, उस प्रतिमा को पाटलीपुत्र से कलिंग वापस ले गया था तथा कुमारगिरि पर्वत पर राजा श्रेणिक द्वारा निर्मित मंदिर का जीर्णोद्धार कराकर उसमें उसके मूल स्थान पर भारी महोत्सवपूर्वक स्थापित की थी। इस उत्सव में आचार्य सुस्थितसूरिजी तथा**

आचार्य सुप्रतिबद्धसूरिजीकी अध्यक्षता में की थी तथा उन्हीं के हाथों प्रतिष्ठा की गई थी।

इसके अतिरिक्त भिक्खुराय ने कुमारगिरि पर नूतन गुफाओं का निर्माण करवाया, उन गुफाओं में विशाल जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा करवाई थी श्रमणसंघ को आमंत्रित कर विशाल श्रमण सम्मेलन आयोजित किया, उसमें द्वितीय आगमवाचना करवाकर जिनागमों को सुव्यवस्थित रूप दिया। इन सब घटनाओं के कारण कुमारगिरि महान तीर्थ बना। जैन शासन की महान सेवा करनेवाले भिक्खुराय का वीर संवत् 330 में स्वर्गवास हुआ। इसके बाद उसके पुत्र वक्रराय ने शासन संभाला। जैन धर्म की उसने भी सुन्दर प्रभावना की। वीर सं. 362 में उसका स्वर्गवास हुआ। उसके बाद विदुहराय कलिंग का राजा बना। वह भी जैन धर्म का महान उपासक था। वीर सं. 395 में उसका स्वर्गवास हुआ।

–'हिमवंत स्थविरावली' पृ. 5 से 8

लगभग 1800 साल पहले हुए हिमवंत आचार्य जिनको मंदिर मार्गी, स्थानकवासी और तेरापंथी सभी मानते हैं, उनकी स्थविरावली में स्पष्ट लिखा है, श्रेणिक महाराजा ने ऋषभदेव परमात्मा की सुवर्ण प्रतिमा भराई थी और सुधर्मास्वामीजी ने उसकी प्रतिष्ठा की थी। अतः स्पष्ट होता है कि हम सभी के आद्यगुरु सुधर्मास्वामीजी के समय में मूर्तिपूजा प्रचलित थी। स्थानकवासी आचार्य हस्तिमलजी महाराज ने भी अपने इतिहास ग्रंथ 'जैन धर्म का मौलिक इतिहास' में इस स्थविरावली के काफी स्थलों में उदाहरण देकर उसकी प्रामाणिकता को स्वीकारा ही है।

तो आईये हम भी नित्य जिनमंदिर में दर्शन–पूजन करके अपनी मूल–परंपरा का अनुसरण करें जिसे सुधर्मास्वामी भी मानते थे।

विशेषः उड़ीसा की हाथी–गुफा में 2000 वर्ष प्राचीन खारवेल के शिलालेख में भी श्रेणिक महाराजा द्वारा भरवाई हुई जिन प्रतिमा का 'कलिंग जिन' के नाम से उल्लेख किया है।

महाराजा कुमारपाल द्वारा प्रभु पूजा

श्री कुमारपाल महाराजा का पूर्व भव

वर्तमान जन्म का अत्यन्त भाग झंझावातों में व्यतीत हुआ था। अतः कुमारपाल राजा को अपने पूर्व जन्म जानने की तीव्र उत्कंठा जागी। कलिकाल-सर्वज्ञ, आचार्य श्री हेमचंद्रसूरीश्वरजी महाराजा को उसने विनंती की। 'कृपालु ! कोई उपाय करो। मुझे मेरा पूर्व जन्म बताओ। इस जन्म में आफतों की श्रृंखला मेरा पीछा क्यों करती रही, समाधान कीजिए।'

'राजन् ! पूर्व जन्म जान सकूं, इतना ज्ञान मेरे पास नहीं। आज किसी के भी पास नहीं। पूर्व जन्म केवलज्ञानी द्वारा जाना जा सकता है या फिर अवधिज्ञानी बता सकते हैं। इन दोनों के अभाव में पूर्वश्रुत का ज्ञान यदि प्रबल मात्रा में प्राप्त किया हो, तो उसके द्वारा भी जाना जा सकता है।

इन तीनों में से एक भी वस्तु मेरे पास नहीं, तथापि सिद्धचक्रजी के अधिष्ठायक देव द्वारा तुम्हारा पूर्वजन्म जानने की कोशिश करूंगा। देव स्वयं यदि तुम्हारा पूर्वजन्म, अपने मर्यादित अवधिज्ञान के बल से जान सकेंगे, तो मुझे कहेंगे। यदि ऐसा हो गया, तो तुम्हारी जिज्ञासा की पूर्ति हो जाएगी।

कुमारपाल को अपार आनन्द हुआ। उसे श्रद्धा थी, कि गुरुदेव किसी भी तरह से मेरी जिज्ञासा जरुर शान्त करेंगे।

सिद्धचक्र की उपासना कलिकाल सर्वज्ञ श्री जी चिरकाल से कर ही रहे थे। शुद्ध परिणामपूर्वक और उत्कष्ट एकाग्रता सहित सूरिजी की उपासना से सिद्धचक्र के अधिष्ठायक देव विमलवाहन यक्ष प्रसन्न थे।

उस रात सूरिजी ने सूरिमंत्र का जाप करके विमलवाहन यक्ष का स्मरण किया। संविग्न गच्छनायकों की सेवा के लिए लालायित, वे यक्ष प्रत्यक्ष हुए। सूरिजी के प्रश्न सुने। अपने निर्मल अवधिज्ञान के उपयोग से, कुमारपाल, सिद्धराज जयसिंह और कलिकाल सर्वज्ञ श्रीजी के पूर्वभव जान लिए। आचार्यश्री जी को सब सुना दिया। यक्ष ने विदा ली। सूरिजी की स्मरण शक्ति सतेज थी। यक्ष द्वारा कहा, सब वृत्तान्त उन्होंने अच्छी तरह याद रख लिया।

दूसरे दिन कुमारपाल की राजसभा में आचार्य भगवंत का पदार्पण हुआ। जैन-

जैनेतरों से छलकाती विशाल पर्षदा समक्ष सूरीजी ने पूर्वजन्मों का प्रकाशन किया:-

अरावली की गिरिमालों के ऊपरी प्रदेश में जयपुर नामक नगर था। जयकेशी राजा, वहाँ राज्य करता था। जयताक उसका पुत्र था। वह क्रमशः युवान हुआ। सातों व्यसनों से चकचूर बना। जुआ और वेश्यागमन कर कर के राजकुल की अपकीर्ति फैलानेवाला बना। अन्त में पिता ने उसे देश निकाला दिया।

अरावल्ली की गिरिमालाओं में वह पहुँचा। भीलों का साथ मिल गया। चोरों की पल्ली बनाकर जयताक पल्लीपति बन गया। लूट-मार उसका व्यवसाय बन गया।

एक बार नरवीर नामक सार्थवाह इस प्रदेश में से पसार हुआ। जयताक ने अपने साथियों के साथ सार्थ को लूटा। अपने प्राण हथेली में लेकर सब भाग खड़े हुए। चोरों को पुष्कल सम्पत्ति मिल गई।

नरवीर सार्थवाह धुआं-पुआं होकर मालव देश में पहुँचा। राजा से सब बात कर के विशाल सैन्य लेकर फिर उसी प्रदेश में आकर जयताक की पल्ली पर अचानक हमला कर दिया। जयताक ने अपने साथियों के साथ सामना तो किया परन्तु सैन्य के सामने चोर टपोटप मरने लगे। जो बचे वे जो कुछ हाथ लगा, लेकर पलायन हो गए। जयताक बिलकुल अकेला रह गया। अतः वह भी अपने प्राण लेकर भाग खड़ा हुआ। उसके पीछे अपनी पत्नी भी पल्ली छोड़कर पति के पद चिन्ह देखती दौड़ी। स्त्री सगर्भा थी।

इस तरफ सार्थवाह के सैनिकों ने पल्ली में जाकर लूटा हुआ सब सामान ले लिया। इसके सिवाय भी लाखों की सम्पत्ति लूटी। सब वापिस आ गए। एक नरवीर सार्थवाह ने चुनंदा सुभटों के साथ पल्लीपति का पीछा किया। सार्थवाह के मन में जयताक के लिए द्वेष का दव सुलग रहा था। जयताक को मारने के खूनी उद्देश्य से वह दौड़ रहा था परन्तु उसे तो वह पकड़ न सका, उसकी पत्नी उसके हाथ में आ गई। उसे जमीन पर पटक-पटककर अत्यन्त क्रूर रीति से उसकी हत्या कर डाली। स्त्री सगर्भा थी। उसका पुत्र जब माता के उदर में से उछलकर बाहर आया, तब उस गर्भस्थ शिशु को भी वह पापात्मा सार्थवाह ने पटककर परधाम पहुँचा दिया।

यह सारी ही लीला दूर से वृक्ष पर छुपे हुए जयताक ने नजरोनजर देखी। वह काँप उठा। द्रवित बना। भय और आक्रोश उसके अंग-अंग में व्याप्त उठा, परन्तु वह असहाय था। बदला लेने की स्थिति में न था।

कितने ही दिन जयताक ने रोने और पागलपन में निकाले... जंगल में वह भटक रहा था। पत्नी पुत्र की निर्मम हत्या से उसके मन की शान्ति बिलकुल वैरण बन गई थी। शिकार करके वह उदरपूर्ति करता। इस तरह अशान्ति, असहायता और असभ्यता में दिन बिताने लगा।

दूसरी तरफ नरवीर सार्थवाह ने जहाँ से सैन्य लिया था, वहाँ मालवपति के पास पहुँचा। मालवा का राजा शील और सदाचार का प्रेमी था। उसने नरवीर के मुंह से स्त्री और गर्भ की हत्या की बात सुनी। उसे बहुत क्रोध आया। नरवीर को उसने देश निकाल किया। उसकी सारी जागीर जप्त कर ली। इस तरह नरवीर भी निःसहाय बन गया। जंगलों में भटकते अन्त में सन्यास ग्रहण किया। शेष जीवन अज्ञात तप करके पूरा किया। मरकर नरवीर की आत्मा सिद्धराज जयसिंह बना है।

इस तरफ दुःखी जयताक को एक दिन भर जंगल में आचार्य यशोभद्रसूरिजी का मिलन हुआ। जैनाचार्य ने इस दुखियारे पर करूणा-भरी द्रष्टि डाली। जयताक उनके चरणों में झुक गया। फफक-फफक कर रो पड़ा। अपनी सम्पूर्ण जीवन-पुस्तक खुली कर दी।

आचार्यदेव ने उसे भरपूर आश्वासन दिया। हिंसा-चोरी और शिकार करना बंद कराया। सातों व्यसन छुड़वाए। धर्म के प्रति स्नेह पैदा कराया।

सूरिजी के साथ विहार करके वह तैलंग देश में आया। ओढर श्रावक के घर में घर काम की नौकरी की। एकबार पर्युषण पर्व के दिनों में सेठ ने जयताक को पूजा के कपड़े दिए। अपने साथ, प्रेरणा देकर उसे पूजा करने को ले चला। दोनों ने जिनालय में प्रवेश किया। जिनप्रतिमा को देखकर उसका रोम-रोम विकसित हो गया। प्रभु पर उसे भारी प्रेम जन्मा जयताक विचार करने लगा : शेठ के धन से खरीदे हुए केसर से परमात्मा की पूजा करूं तो इसमें मुझे क्या लाभ? ना, पूजा तो स्वद्रव्य से, अपने ही पैसे से करनी चाहिए। उसके पास मात्र पाँच पैसे ही थे। उन्हीं पैसों से उसने पूजा की सामग्री खरीदी और उछलते उल्लासपूर्वक जिनपूजा की।

सांवत्सरिक के दिन ओढर श्रावक ने उपवास किया। जयताक ने भी शेठ का

अनुकरण किया। दूसरे दिन अपने भोजन की थाली में से सुपात्र दान किया। इस तरह जिनपूजा और सुपात्रदान स्वद्रव्य से करके उसने कल्पनातीत पुण्य उपार्जन कर लिया। मृत्यु पाकर वह त्रिभुनपाल का पुत्र' कुमारपाल बना। ओढर श्रावक की आत्मा आयुष्य पूर्ण करके यहीं जन्मी। वह उदायन मंत्री बना।

राजन् ! वे यशोभद्रसूरि कालधर्म को प्राप्त करके, इसी जन्म में आप के समक्ष बैठे हैं, वे जैनाचार्य बने....

राजा कुमारपाल के विस्मय का पार न रहा। पूरी सभा एकटक, एक ध्यान से इस वृत्तान्त में रस ले रही थी। उसके आश्चर्य की भी अवधि न रही थी।

कुमारपाल ने पूछा : भगवंत्, आपने जो प्रकाश डाला, वह सत्य ही है, तथापि इसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण मिल सके ?

'हाँ राजन् ! उलंगल नगर में (आंध्रप्रदेश का एक शहर) ओढर श्रावक के वारसदार आज भी जीवित हैं। उनके घर की वृद्ध दासी ओढर श्रावक और जयताक का संबंध जानती है।' सूरिदेव ने प्रकाश डाला।

कुमारपाल ने मंत्रियों को भेजकर खोज कराई। अल्प दिनों में वे सब कलिकालसर्वज्ञजी के कथन सत्य हैं, ऐसा निष्कर्ष लेकर हाजर हुए।

कुमारपाल की गुरुश्रद्धा तब कई गुणा वृद्धि पाई।

महामंत्री पेथड़शाह की परमात्म भक्ति

मालवदेश....

मांडवगढ़ नगरी....

राजा था जयसिंह....

और यशस्वी मंत्री था पेथड़शाह।

पेथड़ के जीवन में महत्त्वपूर्ण धर्मानुष्ठान परमात्म-पूजन का ही पढ़ने में आता है, यद्यपि उस के जीवन में अपूर्व गुण-समृद्धि के दर्शन होते हैं।

वह हमेशा मध्याह्न काल में ही परमात्म पूजन करता। पूजन का समय वस्तुतः मध्याह्न काल ही है। परमात्मा की प्रतिमा के माध्यम से वह मानो परमात्मा के ही दर्शन करता था। अन्यथा पाषाणमय प्रतिमा में इतनी तल्लीनता हो ही कैसे सके? दशत्रिक सहित पूजा करता।

पेथड़शा परमात्मा की पुष्पपूजा करते समय परमात्मा के साथ इतना तद्रूप और तदाकार बन जाता कि उसकी बगल में कौन बैठा है, इतना भी ध्यान न रहता।

राजा जयसिंह के पास पेथड़शाह के कई ईर्ष्यालु पुरुषों ने जाकर, राजा के कान भरे। राजा को महामन्त्री पर पूरा-पूरा विश्वास था। ईर्ष्यालु लोगों ने एक दिन राजा से कहा-

'महाराज ! आप भले ही पेथड़शा पर विश्वास रखो, परन्तु वह आपको पदभ्रष्ट करके आप का राज्य हड़पने की योजना बना रहा है।'

राजा ने पूछा-'इसका कोई प्रमाण तुम्हारे पास है?'

राजा जयसिंह बुद्धिशाली था। वह समझता था कि पेथड़शा के गुणों के कारण, उसकी कीर्ति दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। राज्य की प्रजा को भी मंत्री के प्रति अपार प्रेम और आदर है। अतः अन्य राजपुरुषों के हृदय में ईर्ष्या की आग भड़की है।

किसी की प्रगति देखकर, उन्नति देखकर खुश होनेवाले मनुष्य बहुत कम होते हैं। ईर्ष्या से प्रेरित मनुष्य एकदम असत्य आरोप लगा देते हैं। उसका अपमान करने में वह अपनी एड़ी-चोटी का पूरा जोर लगा देता है।

ईर्ष्यालु राजपुरुषों की राजा ने बात सुनी और प्रमाण मांगा, तो वे बोले– 'महाराज ! महामन्त्री परमात्मा की पूजा के लिए मध्याह्न समय मन्दिर जाता है। वहाँ पर वह अन्य शत्रु राजाओं को मिलता है और आपके विरुद्ध षडयंत्र रचता है। आप मंत्री पर ज्यादा विश्वास मत करो।'

राजपुरुषों की बात सुनकर राजा के मन में पेथड़शा के विरुद्ध जरा भी शंका न हुई। महामंत्री की निष्ठा में तिल मात्र भी संदेह न हुआ। राजपुरुषों को विदा करके मध्याह्न समय राजा ने जिन मंदिर में जाने का निर्णय किया। पेथड़शा जिस मंदिर में जाता था, मध्याह्न समय वहीं राजा पहुंच गया। मंदिर में जाकर उसने जो दृश्य देखा उससे उसका हृदय पुलकित हो उठा। आंखों में हर्ष के आंसू आ गए। जिन–मंदिर में प्रशम–रस से परिपूर्ण परमात्मा की नयनरम्य प्रतिमा थी। उस प्रतिमा के सामने महामंत्री पेथड़शा अप्रमत्तपणे एकाग्र बन कर बैठा था। वह पुष्पपूजा कर रहा था। परमात्मा की प्रतिमा को सुगंधी पुष्पों से सजा रहा था। पेथड़शा की दृष्टि प्रतिमा पर स्थित थी। शुद्ध घी के दीपक प्रज्वलित हो रहे थे। सुगंधी धूप की सुगन्ध से मंदिर सुवासित हो रहा था। वातावरण इतना आह्लादक था कि राजा जयसिंह का तन–मन प्रफुल्लित हो उठा। जरा सी भी आहट न हो, इस तरह धीरे से चुपचाप वह महामंत्री के पास पहुँच गया। संकेत से वहाँ बैठे एक पुरुष को दूर हटाकर राजा स्वयं उस स्थान पर बैठ गया। राजा ने पुष्पों को अनुक्रम में रचने का प्रयास किया पर निष्फल। गलत क्रम में पुष्प हाथ में आया तो पेथड़शा ने मुंह फिराकर देखा तो आश्चर्य से देखता ही रह गया। अपने सेवक के बदले राजा को बैठे देखकर क्षणभर वह स्तब्ध सा हो गया। परन्तु राजा ने तुरन्त उसी व्यक्ति को उसके स्थान पर बिठा दिया और पुष्पपूजा में मंत्री पुनः तल्लीन हो गया। राजा मंदिर से बाहर आ गया। उसके मन में अनेक विचार आने लगे–

ऐसा परमात्मभक्त महामंत्री क्या कभी विश्वासघात जैसा घोर पाप कर सकता है? कदापि नहीं। परमात्म पूजन में इतनी तल्लीनता विश्वासघाती के जीवन में आ ही नहीं सकती। पापी का मन सदा चंचल –अस्थिर होता है। महामंत्री के मन में यदि राज्य की लालसा हो तो वह इतना निश्चल और स्थिर चित्त हो ही न सके। इतनी प्रसन्नता और पवित्रता मंत्री के चेहरे पर छलक ही न सके। मेरा सौभाग्य है कि मुझे ऐसा गुणसमृद्ध महामंत्री मिला।

पेथड़शा की परमात्मपूजा ने राजा को प्रभावित किया। राजा के मन में इस

प्रसंग से पेथड़शा के प्रति आदर द्विगुणित बन गया। राजा ने ईर्ष्यालु राजपुरुषों को सेवा में से निवृत्त कर दिया। पेथड़शा को उन राजपुरुषों के प्रति भी कोई द्वेष न था।

किसी का उत्कर्ष देखकर प्रसन्न होनेवाले गुणी पुरुष तो संसार में विरले ही होते हैं। उसमें भी यह तो 'राजनीति'। राजनीति में तो एक दूसरे के पैर खींचने का ही खेल चलता रहता है। 'दूसरे को कुर्सी पर से उठाओ और मैं बैठ जाऊँ,' यही चलता रहता है राजनीति में।

पेथड़शा का मन साफ था तो राजा भी प्रभावित हो गया। राजा भी तो बुद्धिशाली था। अन्यथा राजपुरुषों की बात सच मान लेता, बिना कुछ परीक्षा किए।

हमें भी परमात्म पूजन में दत्तचित्त होने का प्रयास करना चाहिए।

उदयन मन्त्री द्वारा सिद्धाचल तीर्थोद्धार

गुर्जर-लाट-मालवा आदि अठारह देशों का अधिपति महाराजा कुमारपाल।

उसका मंत्री उदयन!

एक बार सौराष्ट्र के राजा समरसेन ने कुमारपाल की आज्ञा में रहने से इन्कार कर दिया। उसे वश में करने के लिए महाराजा कुमारपाल ने उदयन मंत्री के साथ विशाल लश्कर भेजा। अनेक मांडलिक राजाओं के साथ सौराष्ट्र की तरफ कूच करके जाते हुए उदयन मन्त्री ने बीच में वढवाण गांव में पड़ाव डाला। वहाँ से आगे चलकर श्री सिद्धाचल की यात्रा करने गए। वहाँ गिरिराज पर चढ़कर, श्री ऋषभदेव की पूजा की। फिर चैत्यवंदन करने बैठे। तब मंत्री ने एक आश्चर्य देखा........

मंदिर में प्रदीप्त दीपक की वाट (बत्ती) को एक चूहा अपने मुँह में लेकर बिल में घुस रहा था कि पुजारियों की दृष्टि पड़ते ही उन्होंने महामुसीबत से वह बत्ती छुड़वाई। इस दृश्य को देखकर मंत्री ने विचार किया....

वर्तमान में यह मंदिर लकड़ी का बना हुआ है। 'इस प्रकार की दुर्घटना से इस काष्ठ के मंदिर को आग लगने का भी भय है, जिससे तीर्थ की महान आशातना होना संभव है।' विचारधारा आगे बढ़ी....

'धिक्कार है मेरे जैसे को, कि जिसने राज्य की सेवा में सारा जीवन गवा दिया तो भी ऐसे तीर्थ का जीर्णोद्धार न करा सका। वस्तुतः इस पवित्र तीर्थ में लक्ष्मी का व्यय करना ही जीवन की सफलता है....।'

इस प्रकार विचार करते करते वहीं पर अभिग्रह लिया की 'इस राजकार्य को पूरा करके, जब तक इस तीर्थ का उद्धार न करूं तब तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन, भूमि संथारा और नित्य एकाशना करना। साथ में शकुनि (शमली) विहार का भी जीर्णोद्धार कराना।'

उसके बाद विमलगिरि की यात्रा करके, नीचे उतरकर सैन्य सहित आगे चल पड़े, क्योंकि स्वामी की आज्ञा का पालन करना यह उत्तम धर्म है। शत्रु के शहर के बाहर पहुँचकर मंत्री ने दूत के द्वारा समरसेन राजा को संदेश भेजा कि-'आप कुमारपाल की आज्ञा मानो अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।'

इस की बात सुनकर राजा कोपायमान होकर सिंह की तरह युद्ध करने को

तत्पर हो गया। घमासान युद्ध हुआ। अन्त में समरसेन राजा के मर्मस्थल में बाण लगने से मृत्यु हो गई। उदयन मंत्री की सेना में जयजयकार हो गया। तत्पश्चात् उदयन मंत्री ने समरसेन राजा के पुत्र को गद्दी पर बिठाया और पुष्कल धन ग्रहण किया।

वहाँ से वापसी के समय मार्ग में ही मंत्रीश्वर एकदम बेहोश हो गए, क्योंकि युद्ध में बाणों से सारा शरीर बींध गया था। शीतलोपचार आदि महा मेहनत से मन्त्री को थोड़ा होश आया। उसी समय उन्हें तम्बू में लेजाकर सुन्दर शय्या पर सुलाया गया। उदयन मंत्री के जीवन में अनेक औषधोपचार चालू हो गए परन्तु मंत्री तो जोर-जोर से विलाप करने लगा। तब मांडलिक राजाओं ने उसे पूछा-

'आपको क्या दुःख है? आप इस तरह उदासीन, व्यग्र दिख रहे हो। आपने आज तक अनेक युद्ध किए और वीर पुरुषोचित ऐसे अनेक प्रहार सहन किए, तथापि कभी भी आपने ऐसी व्यग्रता नहीं दिखाई, आप बताओ आपके मन में क्या व्यथा है? क्या बात है?'

उदयन मंत्री ने आर्द्र स्वर से कहा-

'शत्रु के बाणों के प्रहारों से मुझे जो वेदना हुई उसका मुझे तनिक भी रंज नहीं क्योंकि स्वामी के हुक्म से युद्ध में गया शूरवीर योद्धा कदापि प्राणों की परवाह नहीं करता। उसे तो इसमें आनन्द आता है। परन्तु श्री शत्रुंजय और शकुनि विहार तीर्थ के उद्धार की मैंने जो प्रतिज्ञा ली है, उसका विचार कर रहा हूँ। मेरी मृत्यु से इस प्रतिज्ञा का पालन रह जाएगा, यही शल्य मेरे मन में पीड़ा दे रहा है। अन्य किसी भी प्रकार का ऋण मनुष्य को दुःख का कारण बनता है, फिर यह तो देव का ऋण है वह तो महादुख का कारण है। इस तरह देवऋण और नियम भंग इन दोनों बातों से मेरे हृदय में वेदना का पार नहीं है।'

यह सुनकर सेनापति आश्चर्य चकित होकर कहने लगे-'हे मन्त्रीश्वर ! आप अपने मन में किसी प्रकार की चिन्ता न करें। आप के दोनों बेटे सुयोग्य हैं।आपके दोनों पुत्र बाग्भट्ट (बाहड़) और आम्रभट्ट को आपकी प्रतिज्ञा की बात करेंगे। आपकी इच्छा के अनुसार, आपके पुत्रों को उसी तरह अभिग्रह देकर दोनों तीर्थों का उद्धार कराएँगे। यदि वे इस कार्य को अस्वीकार करेंगे तो हम स्वयं ही उसे करेगें।आप निश्चिंत रहें।'

इस प्रकार का मधुर आश्वासन प्राप्त करके मंत्री को अत्यन्त शान्ति मिली, वे बोले– 'आपकी बात से मुझे अत्यन्त राहत मिली है। अब मुझे अन्तिम आराधना करनी है। अतः कोई साधु मुनिराज को बुला दो।'

बहुत तलाश के बाद भी किसी भी मुनिराज का योग मिला नहीं। तब यह सोचकर, कि मंत्रीश्वर को असमाधि न हो इसलिए किसी वंठ नट (सामान्य व्यक्ति) को पकड़ लाए उसे सारी स्थिति समझा बुझाकर साधु का वेश पहनाकर, सारी योजना समझाकर, सिखाकर मंत्रीश्वर के पास ले गए। मुनि को देखते ही मंत्री ने वन्दन किया। श्री गौतमस्वामी की तरह उस मुनि को खमाकर सर्व जीवों से खमतखामणा और दुष्कृत निन्दा, सुकृत अनुमोदना करते करते, शुद्ध अध्यवसाय सहित भावना भाते देहोत्सर्ग करके स्वर्ग सिधारे। उनकी अन्त्येष्टि क्रिया करके सर्व सामन्त राजा, सेना सहित पाटण तरफ प्रयाण कर गए।

अब इस तरफ वह वंठ पुरुष जो मुनिवेष पहनकर आया था, वह मंत्रीश्वर द्वारा किये गए नमस्कार से आश्चर्य को प्राप्त हुआ। उसके विवेक चक्षु खुल गए। सोचने लगा–

'ऐसा महर्षि गुर्जरेश्वर का मंत्री, जिस वेश के कारण मुझे वन्दन करे, उस वेष को छोड़ देना मूर्खता है। चाहे मैने इच्छा के बिना यह साधु वेष लिया था, परन्तु अब इसी वेष में रहकर ही मुझे आत्म कल्याण करना है। बार-बार मुझे ऐसा वेष कौन देगा?'

इस प्रकार मन में विचारकर वह वेषधारी साधु रैवताचल पर जाकर शुद्ध अनशन पाल कर देवलोक सिधारा।

इूर उदयन मंत्री की अन्त क्रिया कर सभी मण्डलेश्वर भी शीघ्रतापूर्वक पाटण पहुँचे। उन्होंने समर राजा के राज्य में से प्राप्त की हुई अढलक लक्ष्मी महाराज कुमारपाल के चरणों में भेंट की और अत्यन्त खेदपूर्वक उदयन मंत्री के स्वर्गवास तथा अन्त समय की प्रतिज्ञा का सर्व वृत्तान्त कहा। जिसे सुनकर राजा ने मुख में से ताम्बूल आदि मुखवास निकाल दिया और एक बड़े भाई की तरह शोकमग्न हो गए।

उदयन मन्त्री के सुपुत्र वाग्भट्ट और आम्रभट्ट तथा अन्य मंत्री भी शोकातुर हो गए। श्री कुमारपाल भूपाल ने स्वयमेव मंत्रीश्वर के आवास पर जाकर, अति आदर पूर्वक उसके पुत्र परिवार को दिलासा दिया और श्री वाग्भट्ट को महामंत्री के रूप में

स्थापित किया।

अब वे सभी मांडलिक राजा श्री वाग्भट्ट और आम्रभट्ट के पास आकर श्री उदयन मंत्री द्वारा तीर्थ उद्धार के लिए ली हुई प्रतिज्ञा बताकर बोले–'आप पिता की भक्ति के लिए तथा धर्म की रक्षा के लिए उदयन मंत्री द्वारा किए गए अभिग्रह को लेकर महान तीर्थ का उद्धार करो। जो पिता के ऋण को चुकाता है, वह वस्तुतः सुपुत्र गिना जाता है। आप इस देव–ऋण में से पिता को मुक्त करके प्रशंसा के पात्र बनो।'

मंडलेश्वरों की ऐसी अमृत तुल्य वाणी सुनकर दोनों मंत्रीपुत्र अति आनन्दित हुए और दोनों ने एक–एक तीर्थ का उद्धार करने का अभिग्रह धारण किया।

मंत्रीश्वर वाग्भट्टं ने श्री कुमारपाल राजा की आज्ञा मांगने पर राजा ने कहा– 'ऐसे पवित्र गिरिराज श्री शत्रुंजय के उद्धार की बात में मेरी आज्ञा की क्या आवश्यकता। तीन जगत के नाथ ऐसे ऋषभदेवस्वामी के चैत्य का उद्धार, सुख से करो।'

इस प्रकार राजा के सहकार से और आचार्य श्री हेमचंद्रसूरिजी के आशीर्वाद से श्री वाग्भट्ट ने महान सैन्य बल लेकर ऋद्धिपूर्वक श्री शत्रुंजय तीर्थ की तरफ चलना शुरु किया। कुछ ही दिनों में सिद्धाचल पहुँचकर श्री आदिनाथ प्रभु का दर्शन–पूजन किया। वहाँ सर्व सैन्य के लिए तम्बू तानकर पड़ाव डाला। वहाँ पर योग्य सलाट तथा शिल्पी बुलाए एवं ऐसे पवित्र तीर्थ के उद्धार की बात सुनकर अन्य अनेक श्रेष्ठी भी ऐसे पुण्य कार्य में भाग लेने के लिए एकत्र हुए। उसी समय...

वहाँ भीम नामक एक घी का व्यापारी, सिर पर घी की मटकी रखकर फिरता–फिरता आ पहुँचा। उसके पास पूँजी में मात्र छः सौनेया थे और वहाँ लाया हुआ घी प्रामाणिकता से बेचकर एक सोना मोहर और एक रुपया कमाया। उस वणिक ने सातों सोनामोहर वस्त्र की गाँठ में भावपूर्वक बांधकर एक रूपये के फूल लेकर श्री नाभिनंद की पूजा–सेवा की। नीचे उतरकर कौतुक से तम्बू में रहे हुए सैन्य को देखते देखते श्री वाग्भट्ट मंत्री के तंबू के पास आया।

सिपाहियों ने उसके मैले वस्त्र देखकर अन्दर आने न दिया, पर बाहर से मंत्रीश्वर की ऋद्धि देखकर विचारने लगा कि –'कहाँ इस मंत्री कि ऋद्धि और कहाँ मैं?' यह तो अलौकिक चारित्रवान और महान पुण्यशाली है... आदि विचार कर

ही रहा था कि सैनिकों ने उसे देखकर उसको गले से पकड़कर उसे बाहर निकाल दिया। यह बात मंत्री को ज्ञात हुई तो तुरंत भीम को अपने पास बुलवाया।

भीम, मंत्रीश्वर वाग्भट्ट को प्रणाम करके बैठ गया। तब मंत्री ने अपने स्वजन की भांति आदरपूर्वक पूछा– 'आप कहाँ से आए हैं?'

भीम ने सर्व वृत्तान्त कहते हुए घी के व्यापार के लाभ की बात की तथा एक रूपये के फूल लेकर उसने पूजा की, यह बात भी बताई।

मंत्री ने कहा–'धन्य है तुम्हें, कि ऐसी स्थिति में भी आपने परमात्मा की पूजा–सेवा की। आप मेरे साधर्मिक भाई बने।'

इस प्रकार प्रशंसा करके सर्व सभा समक्ष उसके कंधे पर हाथ रखा। कहां उत्तम वस्त्रधारी मंत्री और कहाँ मलिन वेषवाला यह वणिक भीम? मानो स्फटिक रत्न के पास श्याम पत्थर न हो!

भीम ने सोचा–'वास्तव में परमात्मा की पूजा का ही यह प्रताप है, कि मेरे जैसे गरीब को गुर्जर मंत्रीश्वर इतना अधिक मान दे रहे हैं।'

उस समय सर्व श्रेष्ठी मंत्रीश्वर के पास आकर हर्षोल्लासपूर्वक कहने लगे–'हे मंत्रीश्वर ! तीर्थोद्धार करने में आप अकेले ही समर्थ हैं तथापि हमें भी इस पुण्य कार्य में थोड़ा थोड़ा लाभ लेने दें। अपनी शक्ति अनुसार हम जो दें वह जीर्णोद्धार में लगाकर हमारी भावना पूर्ण करो।'

साधर्मिक बंधुओं के अति आग्रह से उदारचित्त वाग्भट्ट ने सबके नाम लिखना शुरु कर दिये। तब पास बैठे भीम वणिक को विचार आया–'मेरी समस्त पूंजी, सात सोनामोहर जो मेरे पास है इस चैत्योद्धार में व्यय हो तो मेरा जीवन सफल हो जाए।'

परन्तु शर्म के कारण वह कुछ बोल न सका। मंत्रीश्वर उसके मन की बात समझ गए। वह बोले–'वणिक्बन्धु ! आप कुछ कहना चाह रहे हैं, तो बोलो क्या इच्छा है?'

भीम ने अति हर्षपूर्वक वे सात सोनामोहरें निकाल कर मंत्री के हाथ में देते हुए कहा–'मेरी भी ये सात सोनामोहरें इस उद्धार में लगाने की कृपा करें।'

भीम की बात सुनकर मंत्री तो एकदम विस्मित हो गया। मंत्री ने भीम का नाम

सबसे उपर लिख दिया। यह देखकर सब सेठ लोगों का मुंह उतर गया। मंत्री ने वस्तुस्थिति समझाते हुए कहाँ–

'आप सब की अपेक्षा इसने अधिक दिया है। क्योंकि आपने तो अपनी पूंजी का सौवां भाग भी दिया नहीं, जब कि भीम ने अपनी सर्व पूंजी दान दे दी।'

यह सुनकर सबके मुंह नीचे हो गए। भीम भी अपनी प्रशंसा सुनकर स्वयं को धन्य मानने लगा।

तत्पश्चात् मंत्रीश्वर 500 सोनामोहरें तथा तीन उत्तम वस्त्र भीम को देने के लिए तत्पर हुए। तब भीम ने अस्वीकार करते हुए कहा–'क्या इतने दान के लिए मैं अपना पुण्य बेच डालूं?'

आदर सहित अस्वीकार करके भीम अपने घर गया। घर में उसे अपनी झगड़ालू स्त्री से बहुत भय रहता था। आज उसे यदि पता चले कि मैंने सारी पूंजी दान कर दी तो उसकी क्या दशा वह करेगी? इत्यादि विचार कर डरते–डरते उसने घर में प्रवेश किया। परन्तु उसके आश्चर्य का पार न रहा, जब उसकी पत्नी ने अतिप्रिय और मधुर वचनों से उसका स्वागत किया।

भीम विचार में पड़ गया कि जहर में अमृत, अग्नि में कमल की भांति इस स्त्री के मुख से मधुर वचन हो नहीं सकते। पर लगता है, आज मेरा अहोभाग्य है कि यह महाक्रोधी होने पर भी एकदम शान्त बन गई है। भीम ने जीर्णोद्धार में अपना द्रव्य लगाने की बात उससे की तो वह बोली–'स्वामिन् ! यह तो बहुत पुण्य का काम आपने किया। अपने घर–संसार के लिए तो सभी खर्च करते हैं, पर ऐसे धार्मिक कार्य में तो पुण्यशाली का ही धन लगता है। फिर आपने मंत्रीश्वर के पास से भी मोहरें न लीं, वह भी बहुत सुन्दर किया। तीर्थस्थापना में अन्य की लक्ष्मी कैसे ली जाए?' आदि

थोड़ी देर बाद भीम वणिक्, गाय को बांधने के लिए कीला लगाने की जगह खोद रहा था। उस समय जमीन में से सोनामोहरों से भरा एक घड़ा निकला। उसे खोला तो अन्दर से चार सौ सोनामोहरें निकलीं। भीम सोचने लगा कि वास्तव में यह सात सोनामोहरें दान देने का फल है। अतः इनको भी शुभ मार्ग में उपयोग करुं।

इस प्रकार निश्चय करके अपनी पत्नी से बात की। उसने भी सोनामोहरें लेकर वाग्भट्ट मंत्री के पास जाने को कहा। भीम ने वहाँ जाकर तीर्थोद्धार में वह धन लगाने को कहा।

मंत्रीश्वर ने कहा–'यह तुम्हारे पुण्य से मिली लक्ष्मी है, आप सुख से इसे भोगो।'

भीम ने कहा–'यह मेरा धन नहीं, मैं पराया धन कैसे भोगूं?'

तथापि मंत्रीश्वर ने जबरदस्ती से उसे धन वापिस देना चाहा। लेकिन भीम ने नहीं लिया। इसी रकझक में रात हो गई। दोनों अपने स्थान पर सो गए।

रात्रि स्वप्न में तीर्थ के अधिष्ठायक कपर्दी यक्ष ने भीम को कहा–'एक रूपये के फूल, भाव से परमात्मा की पूजा में लगाए। अतः प्रसन्न होकर यह धन आपको दिया है। साथ ही तुम्हारी स्त्री को भी सुन्दर वचन बोलनेवाली बनाया है। अतः यह सब द्रव्य अपनी इच्छानुसार भोगो।'

इस प्रकार कहकर वह यक्ष अंतर्ध्यान हो गया। प्रभात में उठकर भीम ने सर्व वृत्तान्त मंत्रीश्वर को बताया और सोना –रूपा के पुष्पों से श्री आदिनाथ प्रभु को बधाया और वह सोनामोहरें लेकर अपने घर गया।

उसके बाद मंत्रीश्वर ने उस लकड़ी के मंदिर को हटाकर सुन्दर पाषाणमय बनवाने का कार्य शुरु करवाया। विधिपूर्वक सोनामोहरों से खादमुहूर्त करके श्री मूलनायक बिठाने की जगह पर कूर्माकार की सुन्दर शिलारोपण की।

चैत्य का काम उल्लासपूर्वक कारीगर करने लगे और मंत्रीश्वर भी कारीगरों को रोज नए वस्त्र व भोजन देने लगा। स्वयं पूरी देखरेख करता। ज्यों–ज्यों मंदिर ऊंचा आता था, त्यों–त्यों मन्त्री का पुण्य भी बढ़ रहा था। ऐसे करते दो वर्ष में वह चैत्य तैयार हो गया। वह मंदिर श्री शत्रुंजय गिरि के मुकुट समान शोभा देता था। आनन्द से उल्लसित हृदय से मंत्रीश्वर प्रतिष्ठा की तैयारियों में लग गए।

इसी बीच एक दिन कुम्हलाए हुए मुख से पुजारी ने अचानक आकर मंदिर गिर जाने का दुखद समाचार दिया। अमृत में विष जैसे इस शोक समाचार को सुनकर सूर्य को देखकर जैसे कमल खिलता है, वैसे दुखी होने के बदले मंत्री आनन्दित हो गया। सेवकों ने कारण पूछा तो बताया–'मेरे जीते जी यह मंदिर गिर गया तो मैं इसे फिर से बनवा दूंगा परंतु दैवयोग से मेरी मृत्यु के बाद जो गिरता तो इस के उद्धार का लाभ अन्य के हाथों को मिलता। मैं लाभ से वंचित रहता, इसलिए मैं खुश हूं कि मुझे ही यह लाभ मिलेगा।'

तत्पश्चात् शिल्प शास्त्र में प्रवीण ऐसे सलाटों को बुलाकर मन्त्रीश्वर ने प्रासाद

टूटने का कारण पूछा। तब सलाटों ने कहा–'यह प्रदक्षिणा वाला मंदिर बनाने में आया था। क्योंकि बिना प्रदक्षिणा के मंदिर बनवाने वाले का वंश प्रायः नाश हो जाता है। यह मंदिर तो, पवन को बाहर आने का मार्ग न रहने से अचानक ही टूट गया।'

यह सुनकर वाग्भट्ट ने विचार किया–'वंश किसका रहा है? मेरा भी रहेगा या नहीं, क्या कहा जा सकता है? अपनी आत्मा को लगे पापकर्म या पुण्यकर्म को क्या संतति रोक सकती है? कदापि नहीं। इस भव और परभव में पुण्य बिना किसी का उद्धार नहीं होता। अतः धर्म रूपी सन्तान की वृद्धि ही वस्तुतः लाभदायी है। तीर्थ का उद्धार भवरूपी समुद्र में से तरने का उत्तम साधन है। अतः भरत राजा की तरह इस चैत्य का उद्धार कराकर अपना जीवन सफल करूं।'

इस प्रकार विचार करके मंत्रीश्वर ने सूत्रधारों को प्रदक्षिणा बिना का मंदिर बनाने का हुक्म दिया।

तदनुसार पुनः मंदिर बनना शुरु हुआ। और सम्पूर्ण होने में तीन साल लग गए। तीन करोड़ सोनामोहरें लगीं। इस मंदिर की तुलना कैलाश गिरि से, लोग करने लगे। देवविमान सम इस चैत्य की प्रतिष्ठा के लिए संघ की विनंती पर पाटण में विराजमान आचार्य हेमचंद्रसूरिजी श्री सिद्धाचल पधारे।

वि. सं. 1211 में मार्गशीर्ष सुदि सातम, शनिवार श्री ऋषभदेव प्रभु की प्रतिष्ठा सूरीश्वरजी ने करवाई। ध्वजदण्ड तथा सोने का कलश भी स्थापित किया। मंत्रीश्वर ने अट्ठाई महोत्सव कराया। सूरीश्वरजी के आशीर्वाद लेकर मंत्रीश्वर गिरिराज पर से नीचे उतरा। नीचे तलेटी में अपने नाम से बाहडपुर नगर बसाया। उस नगर में 'कुमारपाल विहार' नाम का एक चैत्य बनवाया। उसमें श्री पार्श्वनाथ प्रभु की प्रतिमा पधराई। उस नगर के चारों तरफ 25 सुन्दर बगीचे बनाकर मंदिर की पूजा के लिए अर्पण किए। वहाँ से मंत्रीश्वर, श्री सूरीश्वरजी के साथ सकल संघ सहित पाटण आए।

अब गुजरेश्वर कुमारपाल की आज्ञा से तथा श्री बड़े भाई वाग्भट्ट की अनुमति से आम्रभट्ट भरूच नगर में गया और अपने पिता की प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिए श्री मुनिसुव्रतस्वामी के नए मंदिर का कार्य शुरू कराया। परन्तु कम नसीब से प्रारम्भ में नींव खोदने का काम करते हुए एक दुर्घटना हो गई। नींव में बहुत से व्यक्ति दब गए। दबे हुए मजदूरों के परिवार जन इससे अत्यन्त आक्रन्द करने लगे।

आम्रभट्ट भी यह जानकर अत्यन्त चिन्तातुर हो गया। यह सोचने लगा-'यह क्या हो गया ? जीने के लिए दवा लेते, जैसे रोगी का मरण हो जाए, वैसे पुण्य का काम शुरु करते, मेरा महान पापबंध हो गया। इस कलंक से मैं लोगों को क्या मुंह बताऊंगा ? इस खड्डे में दबकर मर गए पुरुषों की पत्नियों की हाय से मैं जरूर जल जाऊंगा। इसकी अपेक्षा मर जाना अच्छा।'

इस प्रकार विचार करके, इस पाप में से पवित्र होने के लिए आम्रभट्ट नर्मदा नदी के किनारे डूब कर मरने के लिए गया। उसकी धर्मपत्नी के द्वारा रोकने पर भी वह नहीं माना, इस कारण वह भी आम्रभट्ट के साथ ही झंपापात करने गई। लोगों ने तथा अनुचरों ने बहुत रोका तथापि उस दम्पत्ति ने छलांग लगा दी। परन्तु सहसा एक आश्चर्य के साथ चमत्कार हुआ। नदी में गिरने पर भी उन्हें जरा भी चोट नहीं आई। एक महातेजस्वी देवी उन्हें दिखाई दी।

आम्रभट्ट ने पूछा-'आप कौन हैं ? कृपा कर , बताओ।'

देवी ने गम्भीर स्वर में कहा-'हे वत्स ! इस क्षेत्र की रक्षपाल प्रभाढ्या नामकी मैं देवी हूँ। पुण्य की प्राप्ति के लिए तुमने इस चैत्य का प्रारंभ किया तथापि तुम्हारे सत्त्व की परीक्षा के लिए यह सारा उपद्रव मैंने किया है। हे वीर पुरुष! वस्तुतः तू धन्य है। तुझ में उत्कट सत्व है। उत्तम पराक्रम बिना कोई पृथ्वी का नाथ हो नही सकता। ''देहं पातयामि वा कार्यं साधयामि।''

तुम्हारे सत्व से मैं प्रसन्न हूं। खड्डे में पड़े हुए सर्व मनुष्य सजीवन हैं। तू स्वयं उन्हें अपनी नजर से देख सकता है।'

ऐसा कहकर देवी अंतर्धान हो गई। आम्रभट्ट ने भी चैत्य में आकर खड्डा खुदवाया तो सर्व मजदूरों को जीवित देखा। 'दैवी चमत्कार वस्तुतः अजब होता है।' ऐसा मान आम्रभट्ट ने सभी देवीयों को सुन्दर भोग देकर प्रसन्न किया।

तत्पश्चात निर्विघ्नपणे से मंदिर का काम शुरु हुआ और अठारह हाथ ऊँचा एक चैत्य तैयार हुआ। उसमें आम्रभट्ट ने मुनिसुव्रतस्वामी प्रभु की, राजा और रानी की, तथा अश्व एवं बाणं से मरी हुई और वृक्ष पर से गिरी हुई, ऐसी शकुनि (चील पक्षी) की, मूर्तियाँ उत्तम शिल्पियों से तैयार कराई।

अब प्रतिष्ठा के लिए मंत्री आम्रभट्ट ने सूरि महाराज को विनंती की। श्री हेमचंद्राचार्य भी महाराजा कुमारपाल तथा संघ सहित पाटण से भरुच शहर पधारे।

महान उत्सव पूर्व विधि सहित शांति क्रिया करके कूर्म के चिन्ह वाली, श्री मुनिसुव्रतस्वामीजी की मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई।

श्री चौलुक्याधिपति महाराजा कुमारपाल की कृपा से मल्लिकार्जन कोशवाला, बत्तीस लघु घड़ों के प्रमाण वाला सुवर्ण कलश चढ़ाया। उत्तम दीपायमान रेशमी वस्त्र ध्वज के साथ सुवर्ण दण्ड, विधि सहित स्थापन किया। उस समय सुन्दर और मधुर वाजिंत्रों के नाद किए गए। हर्ष के अतिरेक से उभरते हृदय से आम्रभट्ट मंत्री प्रासाद के ऊपर मयूर की तरह नृत्य करने लगा।

आम्रभट्ट ने वस्त्र तथा सुवर्णादिक दान करके लोगों का जन्मभर का दारिद्र दूर कर दिया। लोगों को इसके लिए मजदूरों की सहायता लेनी पड़ी। उसके बाद राजा के कहने से आम्रभट्ट ने चैत्य पर से नीचे उतरकर आरती उतारने की तैयारी की।

प्रथम आरती श्रीकुमारपाल महाराजा ने उतारी। तब से यह प्रसिद्ध है–'आरती उतारी राजा कुमारपाले–दीवो रे दीवो।'

आरती के प्रारंभ में श्री आम्रभट्ट ने द्वारपालों को, अश्वों का दान किया तथा सोनामोहरे सर्व लोगों को दान में देते हुए, जब सर्व समाप्त हो गया, तब अपने शरीर पर से आभूषणों का दान करने लगा। तब कुमारपाल ने उसका हाथ पकड़कर शीघ्रता से आरती उतराई। उस समय आम्रभट्ट ने कुमारपाल से रोकने का कारण पूछा तो राजा ने कहा–

'हे आम्रभट्ट ! तुम जब अपने शरीर के आभूषण भी देने लग गए तभी मैंने रोका है, क्योंकि दान की धारा पर चढ़े हुए मनुष्य कभी कभी अपने मस्तक का भी दान दे देते हैं। आदि।'

उसके बाद आम्रभट्ट ने भगवान की स्तुति की–

'कछुआ एकदम नन्हा प्राणी होने पर भी अपनी पीठ पर पृथ्वी को धारण करता है, तथा अश्व को जीवितदान देने से दयालु जनों में शिरोमणि श्री मुनिसुव्रतस्वामीजी कल्याण–मोक्ष रूपी लक्ष्मी को दें।''

स्तवना के बाद चैत्यवन्दन करके, चैत्य से बाहर आकर आम्रभट्ट ने गुरु महाराज तथा राजा का बहुत सत्कार किया। तत्पश्चात् सूरीश्वर पाटण पधारे। आम्रभट्ट भरुच में ही कुछ समय के लिए रूक गया। समय बीतने लगा।

एक दिन आम्रभट्ट अकस्मात गंभीर अस्वस्थता में घिर गया। सभी संबंधी घबरा गए। अनेक उपाय करने लगे मंत्रवादियों ने मंत्रोपचार किया। स्नेही जनों ने

तीर्थयात्रा की प्रतिज्ञा ली। वृद्धजनों ने गोत्रदेवी की मानता मानी। तथापि आम्रभट्ट को किसी भी तरह आराम नहीं हुआ ।

अत्यन्त दुखी होकर आम्रभट्ट की माता ने श्री पद्मावती देवी की आराधना की। देवी प्रकट हुई और बोली–'तुम्हारा पुत्र जिस समय आनन्दमय होकर चैत्य पर नृत्य कर रहा था, उस समय उसे योगिनियों ने अपनी पकड़ में ले लिया। ऐसे धर्मिष्ठ बत्रीस लक्षणवाले पुरुष को देखकर दुष्ट योगिनीयाँ (डाकिनीयाँ) ईर्ष्यालु बन जाती हैं। जब तक आ. हेमचंद्रजी की उपस्थिति रही तब तक तो ये सब अप्रकट रहीं, तुम्हारे बेटे का अहित न कर सकीं। गुरुदेव के विहार कर जाने के बाद जैसे दारिद्रावस्था में दुःख प्रकट होता है, वैसे ये प्रकट हुई हैं। इन्हें दूर करने के लिए वे सूरिजी ही समर्थ हैं।'

इतना बताकर, वह देवी अदृश्य हो गई। माता ने भी तुरंत सूरिजी को बुलाने के लिए पाटण में अपने व्यक्ति भेजे। वे लोग शाम को पाटण पहुँचे और आचार्य महाराज को सर्व वृत्तान्त कहा। सब जानकर आचार्य हेमचंद्रसूरीश्वर, श्री यशचन्द्र गणि को साथ लेकर भरुच में आ पहुंचे। आम्रभट्ट की हालत देखकर यह जान लिया कि यह सारा उपद्रव योगिनीयों का ही है। उन्होने गणि की तरफ देखा। यशचन्द्र गणि ने समझकर माता को बताया–

ङ्गमध्यरात्रि में पुष्पादिक बलि की सामग्री लेकर किसी धीर पुरुष को हमारे पास भेजना।'

इतना कहकर आचार्य व गणी उपाश्रय में आ गए। आधी रात को सर्व सामग्री सहित एक पुरुष उपाश्रय आ गया। उसे लेकर आचार्यश्री व गणि, सर्व योगिनीयों में प्रधान सैंधवी के मंदिर की तरफ गए, वहाँ पर अपनी मन्त्रादि विधि से सब योगिनीयों को स्तंभित कर दिया। वे सभी अपने प्राणों की भिक्षा मांगने लगीं। तब गणि ने कहा–'अरि दुष्टाओं! आम्रभट्ट को छोड़ दो अन्यथा मृत्यु की शरण जाओगी।'

शरीर में कीले ठुक रहे हों, ऐसी वेदना को अनुभव करती देवियाँ मुंह में उंगली डालकर मांत्रिक शिरोमणि से बोलीं–

'हे गणीश्वर! माफ कर दो। हम आपके भक्त को छोड़ देती हैं। इसके प्रमाण स्वरूप आप हमारा दाहिना हाथ पकड़ कर रखो। अब के बाद यदि हम इस

महापुरुष का नाम भी लें तो हमें जीते जी मार देना। शरीर के स्तम्भन से हमारे प्राण कंठ में आ गए हैं। अतः दया करो और हमें शीघ्र ही मुक्त करो।'

गणि बोले–'दुष्टाओं ! स्तम्भन मात्र से जब आपको इतना दुख हो रहा है तो प्राण लेने से दूसरों को कितना दुख होता होगा। प्राणों का रक्षण करने जैसा अन्य पुण्य का कोई काम नहीं। प्राणिवध समान अन्य कोई पाप नहीं। आज से तुम यदि प्रतिज्ञा करो कि किसी के प्राण नहीं लोगी और उसमें भी आम्रभट्ट जैसे जैनधर्म में स्थिर महापुरुष का तो खास करके रक्षण करोगी तो मैं तुम्हें मुक्त करूंगा।'

गणि श्री का उपदेश सुनकर सबने क्षमा मांगी। उन्होने उन सब को स्तम्भन मुक्त किया। फिर सभी, आचार्यश्री के चरणों में नमस्कार करके अपने अपने स्थान चली गईं।

उसी समय आम्रभट्ट एकदम स्वस्थ हो गया। जिसका गुरु ऐसा समर्थ हो, उसे क्या फिक्र ? प्रातःकाल सूरिजी पुनः पाटण तरफ विहार कर गए। कुमारपाल ने जब यह सब वृत्तान्त जाना तो दानादि शुभ कार्य विशेष करने लगा। आम्रभट्ट भी धर्मध्यान में विशेष दृढ़ हो गया।

इस प्रकार उदयन मंत्री की अन्तिम भावना पूर्णरूप से साकार हुई।

तीर्थ यात्रा के प्रभाव से माणेक शाह बने माणिभद्रवीर

तपागच्छ में **चौदहवीं या पंद्रहवीं** शताब्दी में श्री आनन्दविमलसूरि म. हुए हैं। उन्होंने यतियों में शिथिलाचार देखकर तत्कालीन साधुओं (यतियों) की 5000 संख्या के साथ क्रियोद्धार किया।

वे एक बार विहार करते हुए मालवा पहुँचे। वहाँ उज्जयिनी नगरी में क्षिप्रा नगरी के तीर पर काउसग्ग ध्यान में ठहरे। उज्जैन में सेठ माणेकचंद बारह व्रतधारी श्रावक रहता था। उसकी माता ने वर्धमान आयंबिल तप प्रारंभ किया। मिथ्यामति के प्रभाव से माणेकचंद की श्रद्धा साधुओं-यतियों से उठ गई थी। माँ ने पुत्र को कहा- ''आचार्य श्री का कल पारणा है। अतः उन्हें वोहरने की विनती करके साथ लेकर आना।''

माणेकचंद को श्रद्धा तो नहीं थी किन्तु मातृभक्त होने के कारण जाने की स्वीकृति दे दी।

कुछ सोचकर वह रात ही में उस शमशाम भूमि में पहुँच गया। वहाँ तो एकदम अंधेरा था। निर्धारित विचारानुसार उसने मशाल जलाई और आचार्य श्री की दाढ़ी के पास रख दी । दाढ़ी हल्की जल गई। थोड़ा मुंह भी जलना स्वाभाविक था। वह आचार्य म. के मुख की प्रतिक्रिया देख रहा था। किन्तु आचार्य भगवन् जरा भी क्रोधित नहीं हुए, शांत रहे, मौन रहे।

आचार्य श्री को परीक्षा में सफल हुए मानकर, उनकी क्षमाशीलता से प्रभावित होकर माणेकचंद साधुत्व के प्रति श्रद्धावान बन गया। तुरन्त उनके चरणों में गिर पड़ा। आचार्यश्रीजी ने उसे प्यार से उठाया और प्रतिबोधित किया।

अब माणेकचंद सेठ आचार्यश्रीजी का अनन्य भक्त बन गया। जहाँ भी वे होते यदा-कदा दर्शनार्थ जाने लग गया।

सेठ की एक दुकान पाली (राज.) में भी थी। एक बार आचार्य आनन्द-विमलसूरिजी ने पाली में चातुर्मास किया। चौमासे में शत्रुंजय माहात्म्य पढा । शत्रुंजय की महिमा सुन-सुनकर सेठ को पालीताणा के दर्शन करने की भावना जगी।

एक दिन व्याख्यान सुनते-सुनते ऐसा उत्कृष्ट भाव आया कि तुरन्त वहीं खड़े

होकर स्वयमेव प्रतिज्ञा कर ली कि सिद्धाचल के दर्शन किए बिना भोजन नहीं करूँगा। गुरुदेव ने बहुत समझाया पर अपनी प्रतिज्ञा पर अटल, माणेकचंद सेठ ने शत्रुंजय भेटने की मस्ती में तप शुरु कर दिया। साथ ही छोटे से काफिले के रूप में, उसी दिन तैयारी करके यात्रा पर निकल पड़ा। तब पैदल का ही रास्ता था। एक-एक करके छः दिन पूरे हो गए। छः उपवास हो गए।

सातवें दिन का उपवास.....

प्रवास चालू था। पालनपुर और सिद्धपुर के मध्य मगरवाड़ा पहुँचे। तब वहाँ गांव नहीं था, जंगल सा था। अचानक भीलों ने हमला कर दिया। धन-माल तो लूटा ही, जीवितदान भी न दिया। सेठ मरते समय भी सिद्धाचल के तथा पंच परमेष्ठी के ध्यान में था। अतः मरकर अनेक देवों के ऊपर माणिभद्रवीर नामक व्यंतर देव बने।

आ. आनन्दविमलसूरिजी म. पालनपुर जाते हुए एकदा उनका पड़ाव मगरवाड़ा की झाड़ियों में था। रात को ध्यान में खड़े थे, तो माणेकचंद सेठ की देवात्मा प्रकट हुई। सूरिजी ने पहचान लिया। पूछा-'तुम यहाँ कैसे?' तब माणेकचंद ने अपनी मृत्यु का वृत्तान्त बताकर माणिभद्र देवता के रूप में उत्पत्ति की बात कही।

माणिभद्रवीर ने कहा-''मैं आपकी सेवा में रहूँगा और एक याचना है (डिमाण्ड है) कि तपागच्छ के व उपाश्रयों में मेरी मूर्ति की स्थापना की जाए ताकि मुझे सुगुरुदर्शन का लाभ मिलता रहे।''

आचार्य श्री ने कहा-'तुम्हें तपागच्छ के अधिष्ठायक देव के रूप में स्थापन कर दिया जाएगा।'

जिस स्थान पर यह वार्तालाप हुआ। उसी स्थान पर माणिभद्रवीरजी की स्थापना कर दी गई। तब से वह स्थान माणिभद्रजी का सिद्धपीठ बन गया। वही स्थान आज मगरवाड़ा के नाम से प्रख्यात है।

शत्रुंजय तीर्थ के प्रभाव से माणेकशाह शेठ माणिभद्रवीर बने... आईए हम सब भी शत्रुंजय की आराधना करके धन्यातिधन्य बनें...

दंडनायक अंबड़ द्वारा शकुनिका विहार का उद्धार...

गुजरात का वह स्वर्णकाल था, जब परमार्हत राजा कुमारपाल गुजरात का अधिनायक था। उस समय गुजरात की प्रजा भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के समृद्धि के शिखर पर आरूढ़ थी।

राजा कुमारपाल के मंत्रिमंडल में जैसा स्थान महामंत्री बाहड का था वैसा ही गौरवपूर्ण स्थान दंडनायक अंबड़ का था।

बाहड़ और अंबड़ महान जिनभक्त उदयन महामंत्री के पुत्र थे। दोनों दक्ष थे, वीर थे और गुणवान् थे।

उदयन मंत्री ने सिद्धाचलजी एवं भरुच के शकुनिका विहार के उद्धार कराने की प्रतिज्ञा ली थी, परंतु आयुष्य ने साथ नहीं दिया। दोनों पुत्र पितृमय थे और पिताजी की प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिए कटिबद्ध हुए।

सर्वप्रथम सं. 1211 में सिद्धाचलजी का उद्धार एवं प्रतिष्ठा कराकर बाहड़ ने पिताजी की प्रतिज्ञा पूर्ण की। उसके बाद अंबड़ को भी पितृ प्रतिज्ञा को जल्दी ही पूर्ण करने का मनोरथ जगा। उसने महाराजा कुमारपाल और महामंत्री बाहड़ को अपना मनोरथ कहकर आज्ञा मांगी। राजा और मंत्री, दोनों ने अंबड़ को स्वीकृति दी और प्रसन्नता अभिव्यक्त की।

अंबड़ पाटण से भरूच आया। तीर्थ स्वरूप 'समडी-विहार' की जीर्ण शीर्ण स्थिति को देखकर अंबड़ ने शीघ्र ही मंदिर के नवनिर्माण का कार्य प्रारंभ करवाया। अंबड़ ने भरूच में ही पत्नी सहित निवास किया।

जिनमंदिर की नींव खुदने लगी। मजदूरों ने नींव काफी गहरी खोदी। वहाँ एक दैवी उपद्रव हो गया। नर्मदानदी का प्रकोप हुआ। देवी की रोषपूर्ण कर्कश ध्वनि सुनाई दी।

'तुमने इतनी गहरी नींव क्यों खोदी? तुमने अपराध किया है.... तुमने जो नींव खोदी है उसी नींव में तुम सबको फैंक देती हूँ।

देवी ने सब मजदूरों और कारीगरों को उस गहरी नींव के गड्ढे में धकेल दिया। सारे भरूच शहर में हाहाकार मच गया। दंडनायक अंबड़ ने जब इस उपद्रव की

बात सुनी वे दोड़कर वहाँ पहुँचे और इस अकस्मात् का भयंकर दृश्य देखकर अत्यंत व्यथित हो गये।

महामंत्री उदयन का सुपुत्र!

महामंत्री बाहड़ का लघु बांधव !

अंबड़ हिम्मत नहीं हारे। उन्होंने दैवी शक्ति से समझौता कर लेने की सोची। जहाँ नींव खोदी गई थी, वहाँ ही अंबड़ ने कायोत्सर्ग – ध्यान लगाया। 'जब तक मेरे निर्दोष कारीगर तथा मजदूर इस नींव में से सकुशल बाहर नहीं आते तब तक मैं अन्न और जल ग्रहण नहीं करूँगा... मेरा परमात्म–ध्यान चलता रहेगा मैं यहाँ से हटूंगा नहीं।'

अंबड़ की धर्मपत्नी ने भी पति का अनुसरण किया। भरूच की जनता इस दंपत्ति की धर्मनिष्ठा और जीवकरूणा देखकर स्तब्ध रह गयी।

ङ्गदेवावि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो'

देव भी उस महात्मा के चरणों में नतमस्तक हो जाते हैं जिस का मन सदैव धर्म में लीन रहता है। देवी नर्मदा अंबड़ के सामने उपस्थित हुई। देवी ने कहाः

यदि तुझे इस मंदिर का नवनिर्माण करना है और इस नींव में गिरे हुए मनुष्यों को बचा लेना है तो मुझे सुलक्षण वाले स्त्री–पुरुष का बलिदान देना होगा। मैं बलिदान चाहती हूँ.... बलिदान देगा तभी तेरा यह कार्य पूर्ण होगा।

दंडनायक अंबड़ ने अपना ध्यान पूर्ण किया। देवी अदृश्य हो गई। अंबड़ ने अपनी पत्नी की ओर देखा, पत्नी ने नरवीर पति की ओर देखा।

दंडनायक बोले – 'प्रिये ! देवी बलिदान मांग रही है। एक दंपत्ति का उन्हें बलिदान चाहिए।'

ङ्गबलिदान देने पर क्या ये सारे कारीगर और मजदूर बच जायेंगे, स्वामीनाथ?'

'हाँ, ये सब बच जायेंगे और मंदिर भी तभी बनेगा।'

'तो फिर आपने क्या सोचा?'

ङ्गयदि तुम तैयार हो तो अपना ही बलिदान....।'

'हे प्राणनाथ, मैं भी यही चाहती हूं.... सैंकड़ों मनुष्यों को बचाने के लिये... जिनमंदिर के नवनिर्माण के लिये....यदि अपनी जिंदगी काम आ जाती है.... तो ऐसा धन्य सौभाग्य मिलना दुर्लभ है।'

अंबड़ ने आज ही अपनी धर्मपत्नी का अपूर्व सत्व देखा! अंबड़ के रोम-रोम विकस्वर हो गये..... आँखों में हर्ष के आँसू उभर आये...।

'तो तैयार हो जाओ प्रिये, हम अपना बलिदान दे देते हैं।'

'नहीं...! नहीं...! यह नहीं हो सकता .....!' कुछ महापुरुषों ने अंबड़ के चरणों में गिरकर सिसकते हुए कहा।

'ऐसा मत करो, हमें मत रोको...' अंबड़ ने राजपुरुषों को समझाते हुए कहा।

'नहीं! आपको बलिदान देने की आवश्यकता नहीं, देवी को हम दूसरा बलिदान देंगे। हमारे में से....'

'यह नहीं होगा। बलिदान हमें ही देना होगा.... मेरे सैकड़ों कारीगर इस खड्डे में पड़े हैं... मुझे उनके पास जाना है... उनके प्राणों की रक्षा करनी है....'

दोनों ने श्री नमस्कार महामंत्र का स्मरण किया और गहरी नींव के खड्डे में दोनों गिर पड़े।

हजारों स्त्री-पुरुष सिसक-सिसक कर रो पड़े। गुजरात के दंडनायक अंबड़-दंपत्ति ने अपना बलिदान दे दिया।

परन्तु ... अल्प क्षणों में ही वहाँ नया चमत्कार हुआ। अंबड़ दंपत्ति का बलिदान नर्मदादेवी ने स्वीकार नहीं किया। दंडनायक का अपूर्व पराक्रम... अद्भुत मनोबल और दिव्य करूणा देखकर नर्मदादेवी प्रसन्न हो गई।

दिव्य ध्वनि हुई- 'हे नगरवासी लोगों! अंबड़-दंपत्ती के अद्भुत साहस से मैं अत्यंत प्रभावित हुई हुँ और उनको तथा सब कारीगरों एवं मजदूरों को पुनर्जीवन प्रदान करती हूँ।'

अंबड़ दंपत्ती अपने कारीगरों और मजदूरों के साथ संपूर्ण स्वस्थ और प्रसन्न खड्डे से बाहर निकल आये।

नगरवासी लोगों ने हर्षोत्सव मनाया। भरूच में ही नहीं, गुजरात के गाँव-गाँव में और नगर-नगर में यह बात वायुगति से फैल गई। सर्वत्र अंबड़-दंपत्ति की प्रशंसा होने लगी।

दंडनायक ने जिनमंदिर का निर्माण-कार्य तीव्र गति से शुरु करवा दिया। कुछ महीनों में ही मंदिर देवविमान सा बनकर तैयार हो गया। अंबड़ का हृदय प्रसन्नता से झूम उठा। जीवन का एक स्वप्न साकार हो गया था।

बीसवें तीर्थंकर परमात्मा मुनिसुव्रतस्वामी की नयनरम्य मनोहर प्रतिमा के सामने दंडनायक अंबड़ और उनकी सुशील धर्मपत्नी ने आनन्दमय होकर स्तुति की और नये मंदिर में पधारने की प्रार्थना की।

समय था विक्रम की तेहरवीं शताब्दी का। संवत् 1220 में 'समड़ी-विहार' के नूतन मंदिर में भगवान मुनिसुव्रतस्वामी की प्रतिष्ठा हुई। दंडनायक ने भव्य महोत्सव किया। गरीब और याचकों को मुक्त मन से दान दिया। जिस समय मंदिर के शिखर पर दंडनायक स्वर्ण कलश स्थापित कर रहे थे, उनका हृदय आनन्द से नाच उठा... दंडनायक नृत्य करने लग गये... भरूच के हजारों स्त्री-पुरुष भी अंबड़ को नृत्य करते देखकर नाचने लगे। परंतु...

धड़ाम सी आवाज आई... दंडनायक मंदिर के शिखर से निचे गिर पड़े.....।

स्वयं नहीं गिरे थे, उनको गिरा दिया गया था।

देवी सिंधवा ने यह अधम कृत्य किया था। सिंधवा मिथ्यादृष्टि देवी थी। उसको वीतराग पर राग नहीं था, द्वेष था। उसको यह मंदिर पसन्द नहीं था, मंदिर में विराजमान भगवान मुनिसुव्रत पसंद नहीं थे और मंदिर का निर्माण करानेवाला दंडनायक अंबड़ भी पसंद नहीं था।

अकारण दुश्मनी !

निष्प्रयोजन शत्रुता !

दंडनायक जमीन पर गिरते ही बेहोश हो गये। रंग में भंग हो गया... आनन्द विषाद बन गया, उत्सव आक्रन्द बन गया। क्या किया जाये? किसी को कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था। अंबड़ का सिर अपने उत्संग में लेकर बैठी हुई पत्नी ने राजपुरुषों को कहा-

'पवनवेगी अश्व पर पाटण महाराजा को और महामंत्री को समाचार भेज दो... गुरुदेव हेमचंद्रसूरिजी की परम कृपा से यहाँ कुछ भी अमंगल नहीं होगा, कुशल मंगल ही होगा।'

राजपुरुषों ने पवनगति के अश्वों पर बैठकर पाटण का मार्ग लिया। तीन दिन में ही पाटण पहुँच गये। महाराजा कुमारपाल को और महामंत्री बाहड़ को समग्र परिस्थिति बता दी। दोनों तुरन्त ही गुरुदेव श्री हेमचन्द्रसूरिजी के पास गये। गुरुदेव को सारी बात बता दी।

हेमचंद्रसूरिजी ने पद्मासन लगाया, आँखें बंद कर लीं और ध्यान में लीन हो गये। अंबड़ को देख लिया, मिथ्यादृष्टि देवी सिंधवा को भी देख लिया। ध्यान पूर्ण किया और कुमारपाल को कहा–'मुझे भरूच जाना पड़ेगा। मिथ्यादृष्टि देवी सिंधवा ने अंबड़ के जीवन को खतरे में डाल दिया है।'

'गुरुदेव भरूच यहाँ से कितना दूर....!'

'मैं पदयात्रा करके तो समय पर नहीं पहूँच सकता हुं... मुझे आकाशमार्ग से जाना होगा।'

'आकाश मार्ग से .... गुरुदेव!'

'हाँ, आज शाम को ही यशचन्द्र मुनि को लेकर मैं भरूच पहुँच जाऊंगा। तुम लोग चिन्ता न करो। अंबड़ जैसे दृढ़ धर्मात्मा की रक्षा करनी ही होगी।'

कुमारपाल और बाहड़ की आंखें आँसूओं से भर गई थीं, दोनों ने गुरुदेव के दिव्य चरणों में मस्तक नमाया और अपने स्थान पर लौट गए।

शाम हो गई। मुनि यशचन्द्र को साथ लेकर गुरुदेव हेमचंद्रसूरिजी योगशक्ति से आकाश मार्ग से भरूच पहुँच गये। सीधे देवी सिंधवा के मंदिर में ही पहुँचकर गुरुदेव ने कार्योत्सर्ग ध्यान लगाया और मुनि यशचन्द्र ने अपने साथ लाये हुये चावलों को पत्थर से कूटना शुरु कर दिया।

रात्रि का प्रथम प्रहर चल रहा था और देवी का मंदिर काँपने लगा। दूसरे प्रहर में देवी की मूर्ति ही अपने स्थान से उठ गई। तीसरे प्रहर में 64 जोगणी आचार्यदेव के सामने हाथ जोड़कर उपस्थित हो गई।

'हे गुरुदेव ! देवी सिंधवा का अपराध क्षमा कर दो... हमें बंधन से मुक्त करो....।'

सिंधवा देवी शर्म से गुरुदेव के सामने भी कैसे देखे? उसने भी क्षमायाचना की और अंबड़ को उपद्रव से मुक्त कर दिया। 63 जोगणी ने अंबड़ पर पुष्प-वृष्टि की।

अंबड़-दंपत्ति को वंदना की। अंबड़-दंपत्ति की इस कहानी को सुनाता हुआ 'समडी-विहार' आज भी भरूच में खड़ा है।

श्रावक जगड़ की उदार भावना..

कलिकाल सर्वज्ञ हेमचंद्राचार्यजी की तारक निश्रा में कुमारपाल महाराजा ने पाटण से शत्रुंजय महातीर्थ का छ'रि पालित संघ निकाला। शत्रुंजय तीर्थ पर संघ के पहुँचने के बाद देवद्रव्य वृद्धि की भावना से हेमचंद्राचार्यजी की अनुज्ञापूर्वक तीर्थमाला का चढ़ावा बोला गया।

कुमारपाल और उसके मंत्री वाग्भट्ट के बीच स्पर्धा होने लगी। चार लाख-आठ लाख से आगे बढ़ने लगे। उसी समय सौराष्ट्र देश के महुआ निवासी प्रागवाट् हंसराज धारु के पुत्र जगड़ ने सवा करोड़ का चढ़ावा बोला। उसे मैले वस्त्रों में देख किसी को शंका पैदा हुई कि क्या इतनी बड़ी रकम वह चुका पाएगा?

उसी समय जगड़ श्रावक ने अपने कपड़े की गाँठ में बंधा हुआ एक रत्न बाहर निकाला, जिसकी कीमत सवा करोड़ की थी। वह रत्न उसने तुरंत चुका दिया।

कीमती रत्न को देख राजा कुमारपाल को बहुत आश्चर्य हुआ। उस समय जगड़ ने कहा, मेरे पिता ने देश-विदेश में अर्थोपार्जन करके जो धन कमाया था, उसमें से ये पाँच रत्न खरीदे थे। उन्होंने कहा था इन पाँच रत्नों में से तीन रत्न शत्रुंजय, गिरनार देवपत्तन के प्रभु के चरणों में समर्पित करना और दो रत्न तुम रखना।

जगड़ की इस उदात्त भावना को देख कुमारपाल को खूब आश्चर्य हुआ।

धन्ना शेठ का अमर सर्जन श्री राणकपुर तीर्थ

राणकपुर का मंदिर ''कला कला के लिए'' के पार्थिव सिद्धान्त के बदले 'कला जीवन के लिए' के उमदा गंभीर सिद्धान्त का एक श्रेष्ठ दृष्टान्त है– मानों अपने जीवन का सार सर्वस्व परमात्मा के चरणों में भेंट धरकर मानव अपने जीवन को यहाँ कृतकृत्य मानता है।

हृदयंगम व सुरम्य कला के विपुल भंडार सा यह तीर्थ स्थल पश्चिम रेलवे के फालना स्टेशन से 22 मील की दूरी पर आया हुआ है। ऊँचे स्तर पर खड़ा किया गया यह मंदिर तीन मंजिला है। यह जिनालय अपनी ऊँचाई से पीछे की ओर आई हुई ऊँची–ऊँची पहाड़ियों के साथ घुलमिलकर मानों आकाश से बातें न करता हो ऐसा आभास होता है। जैसे जैसे उपर जाते हैं, मंदिर के ऊपर की मंजिलों की ऊँचाई क्रमशः कम होती जाती है, किन्तु जिनालय की शोभा व भक्त की भावना बढ़ती जाती है। पूरा मंदिर सुकुमारता व उज्ज्वलता की निधि समान संगमरमर के पत्थरों से बनाया गया है।

पोरवाल इस मंदिर की निर्माण कथा के चार मुख्य स्तंभ हैं – आचार्य सोमसुन्दरसूरि, मंत्री धरणाशाह, राणा कुंभा और शिल्पी देपा या देपाक। इन चारों की भावनारूप चार स्तंभों के आधार पर शिल्पकला के सौन्दर्य की पराकाष्ठा के समान इस अद्‌भुत जिनमंदिर का निर्माण हो सका था।

आचार्य सोमसुन्दरसूरि विक्रम की पंद्रहवीं सदी के एक प्रभावशाली तपागच्छीय आचार्य हुए हैं। श्रेष्ठी धरणाशाह राणकपुर (पिण्डवाड़ा) के समीपस्थ नांदिया गाँव के निवासी थे। पीछे से वे मालगढ़ में जा बसे थे। इनके पिता का नाम श्रेष्ठी कुरपाल, माता का नाम कामलदे और बड़े भाई का नाम रत्नाशाह था। वे पोरवालवंशी थे।

तत्कालीन प्रभावक पुरुष आचार्य श्री सोमसुन्दरसूरि के संपर्क से धरणाशाह, विशेष धर्मपरायण बने और कालक्रम से उनकी धर्मभावना में ऐसी अभिवृद्धि होती गई कि केवल बत्तीस वर्ष की युवावस्था में ही उन्होंने तीर्थाधिराज शत्रुंजय में, आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत जैसे कठिन व्रत को अंगीकार किया था। अपनी कुशाग्र बुद्धि, कार्यशक्ति और राजनैतिक काबिलियत के बल पर ये मेवाड़ के राणा कुम्भा के मंत्री बने थे।

किसी शुभ क्षण में मंत्री धरणाशाह के हृदय में भगवान ऋषभदेव का एक भव्य मंदिर बनवाने की भावना जगी। यह मंदिर शिल्पकला का उत्कृष्ट नमूना और सर्वांगसुन्दर बने ऐसी उनकी मनोकामना थी। एक जनश्रुति तो ऐसी भी है कि, मंत्री धरणाशाह ने एक बार रात्रि के समय सुन्दर स्वप्न देखा और उसमें उन्होंने स्वर्गलोक के नलिनीगुल्म विमान के दर्शन किये। नलिनीगुल्म विमान स्वर्गलोक का सर्वांगसुन्दर विमान माना जाता है। धरणाशाह ने निश्चय किया कि इस धरातल पर मुझे ऐसा ही मनोहर जिनप्रासाद बनवाना है।

फिर तो, उन्होंने अनेक शिल्पियों से मंदिर के नक्शे मंगवाये। कई शिल्पियों ने अपने-अपने नक्शे पेश किये, किन्तु श्रेष्ठी धरणाशाह का मन किसी भी नक्शे से पूर्ण संतुष्ट नहीं हुआ। आखिर मुण्डारा गाँव के निवासी शिल्पी देपा का बनाया हुआ चित्र श्रेष्ठी के मन में समा गया। शिल्पी देपा मस्तमिजाजी और मनमौजी कलाकार था। अपनी कला के गौरव व बहुमान की रक्षा के लिये वह गरीबी में भी सुख से निर्वाह कर लेता था। मंत्री धरणाशाह की स्फटिक-सी निर्मल धर्मभक्ति देपा के अन्तर को छू गई। और उसने मंत्री की मनोगत भावना को साकार कर सके ऐसा मनोहर, विशाल व भव्य जिनमंदिर निर्माण करने का बीड़ा उठा लिया-मानो धर्मतीर्थ के किनारे पर भक्ति और कला का सुन्दर संगम हुआ।

मंत्री धरणाशाह ने राणा कुंभा के पास मंदिर के लिये जमीन की माँग की। राणाजी ने मंदिर के लिए उदारता से जमीन भेंट दी और साथ ही साथ वहाँ एक नगर बसाने की भी सलाह दी। इसके लिये माद्री पर्वत की तलहटी में आये हुए प्राचीन मादड़ी गाँव की भूमि पसन्द की गई। इस प्रकार मंदिर के साथ ही साथ वहाँ नया नगर भी खड़ा हुआ। राणा के नाम पर से ही उस नगर का नाम 'राणपुर' रखा गया। बाद में लोगों में वहीं 'राणकपुर' के नाम से अधिक प्रसिद्ध हुआ।

वि. सं. 1446 में शुरू किया गया इस मंदिर का निर्माणकार्य जब 50 साल बीत जाने पर भी पूरा न हो सका, तब श्रेष्ठी धरणाशाह ने अपनी वृद्धावस्था का विचार करके, मंदिर की प्रतिष्ठा करवाने का निश्चय किया।

यह प्रतिष्ठा वि. सं. 1496 के साल में हो सकी। मंदिर के मुख्य शिलालेख में यही साल लिखा हुआ है। यह प्रतिष्ठा आचार्य श्री सोमसुन्दरसूरिजी के हाथों से हुई थी। इस प्रकार लगातार पचास वर्ष तक मंदिर निर्माण का कार्य चलता रहा,

फलस्वरूप मंत्री धरणाशाह की भावना को हू-ब-हू प्रस्तुत करता हुआ, देवविमान के सदृश मनोहर जिनमंदिर का इस धरती पर अवतार हुआ। प्रचलित किंवदंती के अनुसार इस मंदिर के निर्माण में निन्यानवे लाख रुपये खर्च हुए थे। इस मंदिर की नींव में सात प्रकार की धातु एवं कस्तूरी जैसी मूल्यवान चीजें डलवाकर शिल्पी देपा ने धरणाशाह की भावना तथा उदारता की कसौटी की थी, ऐसा कहा जाता है।

यह मंदिर इतना विशाल और ऊँचा होने पर भी इसमें नजर आती सप्रमाणता, मोती, पन्ने, हीरे, पुखराज और नीलम की तरह जगह-जगह बिखरी हुई शिल्पसमृद्धि, विविध प्रकार की कोरणी से सुशोभित अनेकानेक तोरण और उन्नत स्तंभ, आकाश में निराली छटा बिखेरते शिखरों की विविधता-कला की यह सब समृद्धि मानो मुखरित बनकर यात्री को मंत्रमुग्ध बना देती है, साथ ही मंदिर के निर्माता की ओर से दिखाये गये असाधारण कलाकौशल के लिये उसके अन्तर में आदर और अहोभाव पैदा करती है।

इस मंदिर के चार द्वार हैं। मंदिर के मूल गर्भगृह में भगवान आदिनाथ की बहत्तर इंच जितनी विशाल और चारों दिशाओं में दर्शन देनेवाली चार भव्य प्रतिमायें विराजमान हैं। दूसरे और तीसरे मंजिल के गर्भगृह में भी इसी तरह चार-चार जिनप्रतिमायें प्रतिष्ठित हैं। इस लिये यह मंदिर 'चतुर्मुख जिनप्रासाद' के नाम से भी पहचाना जाता है।

आकाश में चारों ओर चमकते हुए अनगिनत सितारों की तरह मंदिर में जगह-जगह बिखरा हुआ और शिल्प तो दूर रहा, केवल मेघनाद मंडप की शिल्पकला - समृद्धि ही यात्री के अन्तर में प्रशंसा के पुष्प-प्रस्फुरित करने में पर्याप्त है। मेघनाद मंडप में से स्वस्थ-शांत-एकांत चित्त से प्रभु-मूर्ति के मनभर दर्शन करता हुआ मनुष्य विराट् परमात्मा के सम्मुख स्वयंकी कितनी अल्प आत्मा है, इसकी अनुभूति प्राप्त करके खुद के अहं तथा अभिमान को गला देने की भावना का अनुभव करता है। यात्रिकगण को इसी भाव का स्मरण कराती हैं मेघनाद मंडप में प्रवेश करते समय बायें हाथ के एक स्तंभ पर मंत्री धरणाशाह और देपा की प्रभुसम्मुख कोरी हुई आकृतियाँ। मंत्री की प्रभु भक्ति के सामने तो भक्तोंका सर झुके बिना नहीं रहता।

मंदिर की सबसे अनोखी विशेषता है उसकी विपुल स्तंभावली। इस मंदिर को स्तंभो की महानिधि या स्तंभों का नगर कह सकें, इस प्रकार जगह-जगह पर खंभे खड़े किये गये हैं, जिस ओर दृष्टि डालें उस ओर छोटे, बड़े, मोटे, पतले, सादे या कोरणी से उभारे हुए स्तंभ ही स्तंभ नजर आते हैं। मंदिर के कुशल शिल्पियों ने इतने सारे स्तंभों की सजावट ऐसे व्यवस्थित ढंग से की है कि ये प्रभु के दर्शन करने में कहीं भी बाधारूप नहीं बनते। मंदिर के किसी भी कोने में खड़ा हुआ भक्त प्रभु के दर्शन पा सकता है। स्तंभों की इतनी विपुल समृद्धि से ही तो इस मंदिर में 1444 खंभे होने की प्रसिद्धि है।

इस मंदिर के उत्तर की ओर रायण वृक्ष एवं भगवान ऋषभदेव के चरण हैं। ये भगवान ऋषभदेव के जीवन तथा तीर्थाधिराज शत्रुंजय का स्मरण दिलाते हैं।

आबू के मंदिर अपनी सूक्ष्म नक्काशी के लिये प्रख्यात है, तो राणकपुर के मंदिर की नक्काशी भी कुछ कम नहीं है, फिर भी प्रेक्षक का जो विशेष ध्यान आकर्षित करती है, वह है इस मंदिर की प्रमाणोपेत विशालता। इसी से तो जनसमूह में 'आबू की कोरणी और राणकपुर की मांडनी' यह कथनी प्रसिद्ध हुई है।

महामंत्रीश्वर विमल द्वारा आबू तीर्थ का उद्धार

भाग्यशालियों! जीवन में नैतिकता का वही स्थान है जो कि हीरे में तेजस्विता का और फूल में सुवास का। जिस हीरे में तेजस्विता नहीं वह हीरा नहीं अपितु कंकर है। जिस फूल में सुवास नहीं वह फूल बेकार है। अंग्रेजी साहित्य के महान् नाट्यकार शेक्सपियर ने नैतिकता व धर्म के बीच सम्बन्ध बताते हुए लिखा है–

'नैतिकता शून्य धर्म, बिना फूलों का वृक्ष है और धर्मरहित नैतिकता, बिना मूल का वृक्ष है' ।

ऐसी नैतिकता को जीवन में व्यवहार रूप देकर हम धर्म के आराधक बनें व धर्म के फल को पाएँ । जैन साहित्य में विमल मंत्री की नैतिकता का उदाहरण अपने में अनूठा है–

परम भक्त महामंत्रीश्वर विमल के मन में बार–बार एक विचार उठता था कि आबू पर्वत पर परमात्मा श्री आदिनाथजी का एक अपूर्व कलात्मक पाषाण का मंदिर बनवाऊँ। परन्तु उन्हें वहाँ उचित जमीन नहीं मिल रही थी। यद्यपि स्वयं के अधिकारों से वे जमीन यूं ही ले सकते थे परन्तु नीतिमान मंत्री को यह बात स्वीकार नहीं थी।

एक दिन आबू पर्वत पर घूमते हुए महामंत्री ने एक भूखण्ड देखा व उसे खरीदना चाहा। उस भूखण्ड पर ब्राह्मण समाज का आधिपत्य था, अतः महामंत्री ने उनके समक्ष जिनमंदिर के लिए भूखण्ड बेचने का प्रस्ताव रखा। परन्तु ब्राह्मणों ने उस प्रस्ताव को तुरन्त अस्वीकार कर किया। कुछ दिन परस्पर विचार विमर्श करने के बाद ब्राह्मण समाज के अग्रणी आए व महामंत्री से बोले–

'हमारी समाज ने यह निर्णय लिया है कि महामंत्री जी जितनी चाहे जमीन ले सकते हैं किन्तु उतनी जमीन पर सोने की मोहरें बिछवाएँ और वे मोहरें ही उस जमीन का मूल्य समझी जाएँ।'

यह सुनकर महामंत्री को बड़ी प्रसन्नता हुई, उन्होंने आगन्तुक ब्राह्मण समाज के अग्रणी पुरुषों को कहा कि–'मुझे आपकी बात स्वीकार है।' इतना कहकर उन्होंने सेवकों से स्वर्ण मुद्राओं की बहुत सी थैलियाँ मँगवाई और भूखण्ड पर

पहुँच गये। महामंत्री की आज्ञा पाकर सेवको ने भूखण्ड पर सोनामहोरे बिछाई महामन्त्रीने स्वर्णमुद्राओं को देखा तो वे बोले–

'सेवको ! इन सब मोहरों को इकट्ठा कर वापिस ले जाओ और गोल मोहरों की जगह चपटी स्वर्णमुद्राएँ लेकर आओ।'

महामंत्री से ऐसा करने का कारण पूछा तो महामंत्री विमल बोले–

'भैया ! जमीन पर बिछाई मोहरों के गोल होने के कारण मैंने देखा कि जमीन का कुछ हिस्सा इन मुद्राओं के स्पर्श बिना रह जाता है और मैं नहीं चाहता हूँ कि जिनमंदिर के लिए इतनी भी जमीन अनीति से लूँ। सम चौरस मुद्राओं से सारी जमीन का स्पर्श हो जाएगा।'

यह सुन वहाँ उपस्थित समुदाय महामंत्री की नीतिमत्ता की प्रशंसा करने लगा।

ऐसे थे नीतिमान हमारे पूर्वज। महामंत्री विमल की इस नीतिमत्ता के प्रति हमारे दिल में भी अहोभाव पैदा होता है, हम भी धन्य–धन्य पुकार उठते हैं किन्तु हमें केवल उनकी नीतिमत्ता का गुणगान ही नहीं करना चाहिये अपितु वैसी नीतिमत्ता अपनानी भी चाहिये। अंधे बेटे के बाप ने अगर दूरबीन का आविष्कार किया है तो इससे बेटे को क्या लाभ? महामंत्रीश्वर का व्यवहार हमारे लिये आदर्श बने। हम इस आदर्श को पाने के लिये आगे बढ़े। हमारे जीवन की रीति भी नीतिपूर्ण बन जाए।

मित्रों की अमर गाथा
सवा सोमा की टोंक

सौराष्ट्र प्रदेश में वंथली गाँव, मूल नाम वनस्थली। यापन प्रगाढ़ वनों का हरियाला प्रदेश। सवाचंद सेठ-व्यापार, धंधा व्यापक। देश विदेश से व्यापारीगण आते हैं। समुद्र पार के शहरों से जहाजों में माल आता है। सेठ की प्रतिष्ठा जमी हुई। सब कुछ ठाठबाट से चलता था, परन्तु सभी दिन समान नहीं होते, अतः विपत्ति आई। इसी का नाम है संसार। धूप और छाया, सुख और दुःख, सम्पत्ति और विपत्ति ऐसे विरोधी युग्मों से उमड़ता रहे वही है संसार।

निकटवर्ती एक गाँव के जागीरदार ने ठाकुर के कान फूँके-'सवाचंद सेठ की पेढ़ी कच्ची पड़ी है। ठाकुर के एक लाख रूपये सवाचंद सेठ के यहाँ जमा थे। व्यापार वाणिज्य में तो ऐसा होता ही है। दूसरे ही दिन प्रातः ठाकुर अश्व पर सवार होकर सवाचंद सेठ के घर पहुँचे ठाकुर को देखते ही सवाचंद के दिल की धड़कन बढ़ गई। इस प्रकार असमय में प्रातः ठाकुर कहाँ से? खैर जो भी हो सो सही। मेरे प्रभु सब अच्छा ही करेंगे।

ठाकुर बोलेः मेरा पुत्र विदेश जाने का इच्छुक है अतः मुझे अपनी पूरी रकम की आवश्यकता है तो अभी ही इसी क्षण गिनकर लौटा दो।

किसी भी व्यापारी के पास इतनी रोकड़ रकम तो हाथ में कहाँ से हो? एक तरफ तो अनाज से भरे हुए सौ सवा सौ, जहाजो का कोई पता न था, उसमें इधर एक लाख नगद रूपये लौटाने का प्रश्न। उधर ठाकुर का रौब भी भारी। वाद करने जैसी बात नहीं थी, परन्तु थोड़ा विलम्ब किया जा सके। ऐसा लगा। सेठ ने कहाः इतनी बड़ी रकम की व्यवस्था एक साथ तो कैसे हो सकती है? कम से कम तीन दिन का समय तो लग जाएगा।

मुनीमों को आसपास के गाँवों के उगाही हेतु भेजा दो दिन में तो वे जैसे गए थे, वैसे ही लौट आए। जब भाग्य रूठ जाता है, तब चारों ओर से ऐसा ही होता है। तीसरा दिन भी निकल आया, असीम दुविधा थी, कोई उपाय या हल सूझता न था। तब सर्वशक्तिमान प्रभु का स्मरण मन में, श्वास में होने लगा क्योंकि अन्ततः तो शरण उन्हीं की है।

दोपहर भी बीत गई। ठाकुर व्यग्र हो रहे हैं, तकाजा कर रहे हैं, ऐसे में सवाचंद सेठ के मन में एक विचार आया। अहमदाबाद प्रमुख नगर है। वहाँ के सेठ सोमचंद विशाल ह्रदयी है। धर्मात्मा है। मेरा वचन ठुकराया नहीं जाएगा। ऐसे विश्वास के भरोसे पर सोमचंद सेठ का नाम स्मृति पटल पर आया। उनके नाम पर हुंडी लिखी, परन्तु लिखते जाते हैं और कलम कांपती जाती है। मन में उलझन है, अपना कोई परिचय नहीं, उनकी बही में अपना नाम पता भी नहीं होगा और फिर इतनी बड़ी रकम कैसे देंगे?

परन्तु कवि प्रेमलदास का पद है कि 'हरि ने भजतां हजी कोइ नी लाज जती नथी जाणी रे–अर्थात् प्रभु भजन करने में अभी तक तो किसी की प्रतिष्ठा को आँच नहीं आई है। इस श्रद्धा के साथ भगवान के भरोसे पर हुंडी लिख डाली। कमल की स्याही से चमकते हुए अक्षरों पर रेती भुरकाना शुरु किया, परन्तु ह्रदय भरा था, उस पर बस न रहा। ह्रदय की वेदना और शोक या हर्ष प्रकट करने के लिये शब्द जब विवशता प्रकट कर देते हैं तब आँसूओं के द्वारा यह वेदना शोक हर्ष साकार हो जाता है। यहाँ भी ऐसा ही हुआ। सुध भी न रही और लिखे गए उस पत्र पर दो अश्रु बिन्दु टपक पड़े। कुछ अक्षर द्रवित होकर फैल गए। फीके पड़ गए। कागज (हुंडी) समेट ली गई। अहमदाबाद झवेरीबाड़ सोमचंद सेठ की पेढ़ी का पता लिखकर ठाकुर को दे दी की यह पत्र दिखाकर अहमदाबाद के सेठ सोमचंद की पेढ़ी से रकम प्राप्त कर लें। ठाकुर भी 'क्या होगा? एक लाख रूपये मिलेंगे या नहीं? ऐसी असमंजस्य में प्रस्थान किया और अहमदाबाद पहुँचे।

सोमचंद सेठ की पेढ़ी ढूँढने में देर न लगी। नाम बड़ा ही ख्यातिवाला था। साख अच्छी थी। पेढ़ी पर मुनीम, महेता, नौकर चाकर और वस्तुओं की भीड़ थी, परन्तु सोरठी पघड़ी पहिने हुए ठाकुर कोई अतिथि हैं ऐसा लगा। सेठ की दृष्टि पड़ते ही उन्होंने मधुर स्वागत किया: आओ, आओ सेठ ! 'अपरिचित लगते हो!' हाँ हूँ तो सौराष्ट्र वंथली के निकटवर्ती गाँव का। यह हुंडी लेकर आया हूं। सोमचंद सेठ ने हुंडी हाथ में ली। जैसे ही हुंडी लिखने वाले सवाचंद सेठ का नाम पढ़ा कि ललाट पर झुर्रियाँ पड़ गई। सर्वथा अपरिचित नाम और बहुत बड़ी रकम। फिर भी मुनीम को पूछा–खाता बही में जरा देखो न सवाचंद सेठ वंथली वाले के खाते में क्या बोलता है? पूरी बही आगे पीछे, ऊपर नीचे उलट पुलट कर मुनीम ने कहा 'यह नाम अपने यहाँ है ही नहीं।

सोमचंद सेठ ने हुंडी पुनः अपने हाथ में ली। बार-बार पढ़ते-पढ़ते अचानक अंतिम दो अक्षर धूमिल हुए देखकर हृदय पुकार उठा। व्यक्ति परेशानी में होगा, कोई चारा मार्ग न सूझा हो, तभी यह हुंडी लिखी है। पूर्ण विश्वासपूर्वक लिखी है। आँसूओं की इन दो बूंदों पर प्रतिबिंब सोमचंद सेठ के हृदय दर्पण में पूर्णतः अंकित हो गया। तुरन्त ही मुनीम को कहा 'लाख रूपये गिनकर दे दो।' मुनीम ने प्रश्न किया किस खाते में लिखूँ? सेठ ने कहा 'खर्च खाते में लिखकर दे दो।

रुपये दे दिये गए। ठाकुर मन ही मन प्रसन्न हुए। चाँदी के लाख रूपयों की थैलियाँ बनाकर वे अपने गाँव लौट आए।

कुछ समय बाद इधर सवाचंद सेठ को उस जहाजो के शुभ समाचार मिले। सारा ही माल सुरक्षित आ पहुँचा। सेठ का भाग्य इतना प्रबल हुआ कि व्यापारियों को माल बेचते बेचते तो भाव अच्छे मिले । अच्छी आमदनी हुई, तो सर्वप्रथम सोमचंद सेठ को याद किया, जिन्होंने बिना परिचय के इतनी बड़ी रकम दे दी थी। जिस दिन हुंडी लिखी थी, उस दिन से सेठ ने घी, दूध और सभी प्रकार की मिठाइयों का त्याग कर रखा था।

व्यापार हुआ और जैसे ही पैसे हाथ में आए कि तुरन्त ही अहमदाबाद का मार्ग पकड़ा। सोमचंद सेठ के घर का पता लगाया। सोमचंद सेठ ने उनका स्वागत किया।

सवाचंद सेठ ने कहा 'सेठ ! रूपये लाया हूँ, गिन लो और जमा कर लो। सोमचंद सेठ बोले, 'कैसे रूपये और कैसी बात ? बही में आपका कोई हिसाब नहीं! अतः नहीं ले सकता।

'आपने दिये थे और मुझे आपके रूपये लौटाने हैं।'

'मैं नहीं ले सकता।'

इस प्रकार मधुर खींचतान काफी समय तक चली। मुनीम को बुलाया बहियाँ देखने को कहा! क्या मिला? नाम हो तो मिले न? सोमचंद सेठ दृढ़ रहे । हमारी बहियों में कोई उल्लेख नहीं है अतः मैं रूपये लेने में असमर्थ हूं। सवाचंद सेठ भी उतने दृढ़ रहे कि मेरी हुंडी के मुताबिक रकम मिली है अतः मैं लौटाकर ही रहूँगा।

बात बढ़ गई। दोनों ही व्यक्ति अपनी अपनी बात पर अडिग रहे। आखिरकार इस खींचतान का हल निकालने का कार्य गुरु महाराज को सुपुर्द किया गया। उनके पास क्या हल हो। सारी समस्या का समाधान धर्म ही होता है।

''आपको लेने ही न हों और आपको रखने ही न हो तो गिरिराज पर विशाल जिनालय का निर्माण करवा लो। आप दोनों का हित इसी में है।'' तुरन्त निर्णय हुआ और देखते ही देखते तो बादलों से बात करता हो, ऐसा गगनचुंबी शिखरबद्ध विशाल चतुर्मुख का जिनालय कुछ समय में निर्मित हो गया।

इस टूँक की रचना में 48 लाख रूपयों का खर्च हुआ था। आश्चर्य की बात तो यह है कि टूंक के पत्थर चढ़ाने के लिये 84 हजार रूपयों के रस्से उपयोग में लिये गए थे।

वि. सं. 1675 के वर्ष में इसकी प्रतिष्ठा दोनों ही सवाचंद सेठ और सोमचंद सेठ के विशाल परिवारों ने साथ मिलकर करवाई थी। नौ टूँक में मुख्य टूँक के रूप में सवा सोमा की यह टूँक अति विख्यात है। इस टूँक का शिखर 96 फीट ऊँचा है और समुद्री सतह से 1977 फीट की ऊँचाई पर है। दूर-दूर से भी जिसके दर्शन हाथी की अंबाड़ी जैसे होते हैं।

साधर्मिक वात्सल्य का परिणाम इस सुन्दर रूप में युगों युगों तक जीवंत रहेगा, किसी को भी इसकी कल्पना नहीं थी। किसी अपरिचित की आँख के आँसू के हृदय में प्रतिबिंबित अमर गाथा का गान आज भी उसकी फहराती हुई ध्वजा हमें सुना रही है।

आप हम उसे सुनें और अपनी दृष्टि में आए हुए किसी साधर्मिक के छिपे आँसू पोछने में अपने रूमाल को धन्य बनाएँ।

लावे लावे मोतीशा शेठ न्हवण जल लावे रे

प्रतिदिन प्रातः कालीन प्रहर में प्रभु की जल पूजा करते समय उपर्युक्त पंक्ति गाई जाती है। मुंबई में धार्मिक संस्कारों से युक्त सेठ अमीचंद साकरचंद की धर्मपत्नी रूपाबाई की कुक्षि से नेमचंद, मोतीचंद, देवचंद नामक तीन पुत्रों का जन्म हुआ था। तीनों ही भाई बुद्धिशाली थे, फिर भी उन में से मोतीशा सेठ अल्प समय में ही प्रसिद्ध हो गए। अतः मुंबई से इंग्लैण्ड, चीन, जापान जैसे देशों तक सेठ का व्यापार विस्तृत हो चुका था। व्यापार की चतुराई युक्त बुद्धि और पुण्यबल से अतुल धनोपार्जन किया और उदार गुण के साथ लालबाग, भायखला, अगासी जैसे स्थलों के विशाल जिन मंदिर उनकी धर्मभावना की साक्षी दे रहे हैं। अंग्रेजों के शासन काल का वह समय था।

एक बार सेठ का कीमती जहाज माल सामान लेकर चीन की ओर जा रहा था। उस जहाज में नियम विरुद्ध अफीम जा रहा है, ऐसी शंका सरकार को हुई। जहाज को पकड़ने के लिये बड़ी बोट से पीछा किया गया। सेठ को पता लग गया। सेठ ने उसी समय संकल्प किया कि यदि इस जहाज का माल सही सलामत बच जाए तो उसमें से उपार्जित धन का सदुपयोग शत्रुंजयतीर्थ पर करूंगा। सौभाग्यवश जहाज बच गया और माल के विक्रय में विपुल लाभ प्राप्त हुआ। सेठ ने अपने संकल्प के अनुसार सिद्धाचल की ओर प्रयाण किया। भावोल्लास की वृद्धि होने से मंदिर का निर्माण करवाने की भावना जागृत हुई। पूर्व में अनेक टूँकों (शिखरों) के निर्माण हो चुके थे, कहीं भी स्थल शेष न था, अतः अन्ततः कुंतासर की विराट खाई पर दृष्टि पड़ते ही विचार किया कि यदि इस खाई को पाट दी जाए (भर दिया जाए) और जिनालय का निर्माण हो जाए तो यात्रियों को नौ टूँकों में से घूम कर आना न पड़े, दोनों टूंक एक साथ हो जाए। अहमदाबाद के नगरसेठ के सामने प्रस्ताव रखा, सेठ ने मुस्कुराकर कहा कि यह तुम्हारे बस की बात नहीं है, इतनी गहरी खाई को पाटने का कार्य बड़ा ही कठिन है। सेठ मोतीशा ने कहा कि धर्म की कृपा से आज मैं समर्थ हूँ और वास्तव में यह भगीरथ कार्य सेठ ने 4 वर्ष के परिश्रम के बाद पूर्ण किया। खाई को भरने में माल सामान और मजदूरी जो लगी होगी वह अतिरिक्त। इस कार्य के लिए 80 हजार रूपयों के तो रस्से ही आए थे, जिनकी कीमत आज तो करोड़ों की हो जाती है। सेठ ने प्रबन्धक, कार्यकर्ताओं और भद्र

की देखरेख में मंदिर का कार्य पूरे वेग से चलाया। सात वर्षों में जिनालय का कार्य 1100 कारीगरों और 3000 श्रमिकों ने रातदिन एक करके पूर्ण किया। 'नलिनी गुल्म' विमान के आकार में मंदिर तैयार हो गया। सेठ की धर्मपत्नी दिवाली बहन के हृदय में हर्ष अपरिमित था। मुहूर्त ही शेष था परन्तु विधि का विधान कहो या और कुछ कि अचानक सेठ मोतीशा का वि. सं. 1892, भाद्रपद शुक्ला 1 को देह विलय हुआ।

क्षणभर उनका ज्येष्ठ पुत्र खीमचंद दिग्मूढ़ हो गया। **खनन मुहूर्त के समय कथित ज्योतिषी के शब्द सत्य सिद्ध हुए।** शास्त्रों में शुभ मुहूर्त की भी महिमा वर्णित है।

खीमचंद को पिता के शब्द याद आए-'खीमचंद! प्रतिष्ठा ऐसी करवाना कि मेरी धर्मकीर्ति, लक्ष्मी और कुल अमर हो जाएँ, सार्थक बन आएं। तुरन्त ही उसने मन दृढ़ किया, स्वस्थ बना और कुछ ही समय के पश्चात् प्रतिष्ठा का मुहूर्त निकलवाया। वह शुभ दिन था वि. सं. 1893 का पोष कृष्णा 1।

इसी प्रकार खीमचंद सेठ ने बड़े ही ठाट बाट से शत्रुंजय का संघ निकाला। संघ में 40 संघवीजन थे। खीमचंद सेठ ने प्रतिष्ठा में विपुल धनराशि का व्यय वहन किया। 15 दिन तक समग्र पालीताना नगर को भोजन करवाया था। प्रतिदिन प्रीतिभोज का खर्च 80 हजार का था। इस प्रकार 40 देवकुलिकाओं से देदीप्यमान यह मंदिर शुभ मुहूर्त में प्रतिष्ठित हुआ। प्रतिष्ठा के समय मोतीशा सेठ जो देव बने थे, उन्होंने क्षीर समुद्र का जल लाकर अभिषेक किया जो वहाँ प्रत्यक्ष लाखों लोगों ने देखा थ।

आज भी एक कलामय मंदिर, कुंतासर तालाब और वहाँ कुलदेवी विद्यमान है। प्रतिष्ठा के एक वर्ष पश्चात् मोतीश शेठ की धर्मपत्नी दीवाली बहन भी स्वर्गवासिनी बनी, मानो यह गौरवगाथा सेठ को कहने के लिए ही वे गई हैं।

इस सम्पूर्ण टूंक में आज 16 मंदिर और 123 छोटी देहरियाँ हैं। मूल मंदिर में प्रभु के सम्मुख गवाक्ष में सेठ-सेठानी की अंजलिबद्ध मूर्तियाँ सुशोभित हो रही हैं।

नित्य प्रातः प्रभु का प्रक्षाल करते समय याद करते हैं -'लावे लावे मोतीशा सेठ, न्हवण जल लावे रे।'

उजम बाई की दृढ़ता

धर्म की दृढ़ता के लिये जो उजम बुआ चिरस्मरणीय रहेंगी। यह घटना 19 वीं सदी की है। अहमदाबाद के नगर सेठ वखतचंद खुशालचंद के 7 पुत्र और एक लाड़ली पुत्री उजम बहिन थी। वखतचंद के भाई के पुत्र हेमाभाई और उनके पुत्र प्रेमचंद की बुआ उजम बहिन की शादी बड़े ही वैभवशाली ढंग से हुई थी। शादी के बाद बहिन को पहरावनी (दहेज) देने के लिये 500 गाड़ियाँ भरकर भेजी थी। बहिन ने सारी पहरावनी देखी परन्तु कुछ भी प्रसन्नता व्यक्त नहीं की, जिस पर भाई को लगा कि इतने से संतोष न हुआ हो तो अधिक क्या दूं? बहिन ! तू निःसंकोच होकर मांग ले। बहिन ने जो उत्तर दिया वह मननीय एवं अनुकरणीय है। उसने कहा 'अरे मेरे प्यारे भाई! यह सारी सामग्री तो संसार के मोह की पोषक बनेगी, रागवर्धक सिद्ध होगी। मुझे तो दहेज में चौक के मध्य एक जिनालय चाहिये। यदि तू मेरा सच्चा भाई है तो एक जिनालय का निर्माण करवा दे।' भाई भी हो तो ऐसा हो। उसने तुरन्त ही कह दिया ' जा बहिन ! अल्प समय में ही तेरी इच्छा पूर्ति करके ही चैन से बैठूंगा।'

कैसी दृढ़ धर्मी थी उजमफई ! एक बार 1868 में उजमफई नव्वाणु (निन्यानवे) यात्रा करने के लिये पालीताना गई थी। उनके पति बीमार हुए और विधि का विधान कि उनकी मृत्यु के समाचार मिले। परंतु उनकी धार्मिक दृढ़ता होने से वे अपना व्यावहारिक कर्तव्य पालन करने के लिये भी पालीताना से अहमदाबाद नहीं गई। उनके शब्द थे 'यदि मेरी 99 यात्राएँ छोड़कर अहमदाबाद जाने से वे पुनः जीवित हो जाते हों तो मैं अवश्य जाऊँ, परन्तु ऐसा न कदापि हुआ है न होगा। जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु निश्चित है। मानती हूं कि वे युवावय में गए हैं, परन्तु मृत्यु ने आज तक किसी की वय का ख्याल नहीं रखा है। सूर्योदय के साथ ही अस्त भी निर्धारित ही होता है।' इस प्रकार दृढ़ मनस्क वे अपनी यात्रा बीच में छोड़कर न गई सो न गई। लौकिक व्यवहार को भी धर्म का प्रबल अवलम्बन प्राप्त होता है। अपनी निन्यानवे यात्राएं पूर्ण करने के पश्चात् पालीताना में नौ टूंक में जिनालय का निर्माण करवाकर 1893 की माघ शुक्ला 10वें दिन नंदीश्वर द्वीप तीर्थ की प्रतिष्ठा करवाई। उन्होंने अपने जीवन में कल्पसूत्र प्राकृत, संस्कृत का वांचन करवाया था और स्वर्णमुद्राओं की प्रभावना की थी।

तोता मनुष्य बना

लगभग 100 वर्ष पूर्व घटित यह एक सत्य घटना है। जयपुर के दीवान गुलाबचंद ढड्ढा के घर में एक बालक का जन्म हुआ था। 11 दिन का यह बालक बहुत रोता है। अनेक उपाय करने पर भी वह शान्त न रहा तब परिवार के किसी सदस्य ने ''क्यों न भये हम मोर विमलगिरि''–स्तवन गाना शुरु किया। रोना बन्द करके यह बालक ध्यानपूर्वक सुनने लगा। फिर तो जब भी रूदन करे तब यह स्तवन सुनाकर उसे शांत किया जाने लगा। सिद्धाचलजी की हाल ही में की गई यात्रा की स्मृति स्वरूप में उस बालक का नाम सिद्धराज ढड्ढा रखा गया। तीन वर्ष की अल्पायु में उसे उसकी चाची सोना वालकेश्वर दर्शनार्थ ले गई थी, तब वह बोल उठा था कि 'वे आदिनाथ तो बड़े हैं।' पूछने पर उसने बताया कि 'सिद्धाचल के आदीश्वरदादा की मैंने गत (तोते के) भव में पूजा की थी। वह कभी पालीताना नहीं ले जाया गया था, वह सिद्धगिरि के दर्शन करने की जिद करने लगा। 3 वर्ष की आयु में उसे पालीताना ले गए। सोनगढ़ और शिहोर गाँव से गिरिराज दिखाकर सिद्धराज अपने चाचा को कहता है 'यही सिद्धाचलजी है' पालीताना पहुँचने पर यात्रार्थ उसे डोली में बैठने के लिये कहा गया। परन्तु वह तो अपने चाचा की अंगुली पकड़कर चढ़ने लगा। गोद में उठाकर उसे उपर ले जाया जाने का प्रस्ताव भी उसने नहीं माना। इतना ही नहीं बल्कि आश्चर्य तो यह है कि बीच में कहीं भी बिना विश्राम किये वह उपर पहुँच गया। उसकी भावना जानकर प्रथम प्रक्षाल पूजादि का अवसर उसे प्रदान किया। घर के सदस्य जब चैत्यवंदन कर रहे थे, तब वह आधे घंटे तक दादा आदीश्वरजी के सम्मुख ध्यानस्थ बैठा रहा। यात्रा के बाद वह बहुत ही प्रफुल्लित दिखाई दिया। उसने गिरिराज पर पानी भी नहीं पिया। एक या दो बजे के करीब नीचे उतरने के पश्चात् ही उसने भोजन ग्रहण किया। उसका प्रियस्थल (सिद्धबड़) उसने सभी को बताया। पूछने पर उसने कहा कि यात्रा पर आए हुए इन ढड्ढाजी और इनकी मातुश्री को देखकर मुझे इनके यहाँ जन्म लेने का मन हुआ था। 4 वर्ष के इस बालक को उसके घर के सदस्य महाराज सा. के पास ले गये। उनके साथ बातें की। पू. मुनि श्री कर्पूरविजयजी म.सा.आदि ने कहा कि इसे जातिस्मरण ज्ञान हुआ लगता है। हजारों यात्री उसके दर्शनार्थ आते थे। यही बालक वयस्क होकर कलकत्ता के व्यापारी चेम्बर में उच्च पद पर पहुँचा। उनका जन्म सन् 1910 में हुआ था और 11 वर्ष पूर्व ही फाल्गुन शुक्ला 10 दि. 9-3-

2006 के दिन जयपुर में 97 वर्ष की आयु में वे स्वर्गस्थ हुए हैं। हीरालाल शास्त्री के समय में प्रथम बार लोकप्रिय सरकार में उद्योग मंत्री रहे थे। पश्चात् सत्ता और राजनीति के पद का भी त्याग करके स्वतंत्रता सेनानी गांधीवादी बने और समाजसेवा में कार्यरत रहे। यह एक सत्य घटना है, इनके परिवार के सभी सदस्य जानते हैं। ये स्वयं भी स्वीकार करते थे कि यह पूर्णतया सत्य घटना है।

जिम–जिम ए गिरि भेटीये रे।
तिम–तिम पाप पलाय सलूणा।।

पूर्व जन्म के ऐसे अनेक प्रसंग आज भी सुनने में आते हैं। हम भी धर्म साधना करके सद्गति और शीघ्र शिवगति प्राप्त करें।

काल अनादि पालन गिरिवर शाश्वतता मुझ चित्त धरुँ,
सिद्ध थया तुझ कंकर–कंकर साधु अनंत नो स्नेह करूँ,
परम महोदय कारक दर्शन करत आत्म भाव वरूँ,
हे सिद्धाचलगिरि! तव चरणे वंदन वार हजार करूँ।

तीर्थ सुरक्षा हेतु बलिदान

इस अवसर्पिणी काल के दूसरे तीर्थंकर त्रिलोकपति अनन्त करुणा के सागर अजितनाथ भगवान के शासन में समग्र पृथ्वी पर सुख शान्ति और संतोष का वातावरण था। हिंसा, झूठ, चोरी, वैर, वैमनस्य आदि अनिष्ट तत्त्वों का प्रभाव प्रायः नष्ट हो चुका था।

इन्द्र की नगरी अलकापुरी के समान विनीता नाम की नगरी थी। वहाँ पर अजितनाथ प्रभु के भाई सगर चक्रवर्ती राज्य करते थे। उनकी 64 हजार पट्टरानियाँ थीं। सुख, समृद्धि और वैभव का कोई पार नहीं था। अजितनाथ प्रभु के उपदेश से सगरचक्री की जीवन वाटिका धर्म के सिंचन से समृद्ध थी। ईक्ष्वाकु कुल के संस्कारों से उनका जीवन ओतप्रोत था।

संसार के सुखों को भोगते हुए सगर चक्रवर्ती के 60 हजार पुत्र हुए। सबसे बड़े पुत्र का नाम जह्नुकुमार था। उद्यानपालों के द्वारा लगाए वृक्ष जैसे बढ़ते हैं वैसे ही धायमाताओं के द्वारा पालित वे लड़के भी क्रम से बड़े हुए। धीरे-धीरे सभी कलाओं को ग्रहण करके यौवनवय को प्राप्त हुए।

एक दिन सभी भाई राजमहल के विशाल चौक में एकत्रित हुए तथा अपने पिता सम्राट सगरचक्री का आगमन की प्रतीक्षा करने लगे। जैसे ही पिता का आगमन हुआ सभी के मनमयूर नाच उठे। योग्य आसन पर पिता को बिठाकर प्रणाम करके हाथ जोड़कर विनती करने लगे- 'हे पूज्य पिता जी ! आपने अपनी भुजाओं के पराक्रम से षटखंड पृथ्वी को जीत लिया है। हमारी इच्छा है कि हम आपके जीते हुए सर्वभूतल पर विचरण करें तथा महातीर्थ अष्टापद की यात्रा करें। पुत्रों की बात को पिता ने स्वीकार किया। अन्त में पिता को प्रणाम करके सभी अपने निवासस्थान पर आए तथा प्रयाण की मंगल सूचक दुदुंभि बजवाई।

प्रयाण के समय अशुभ उत्पात स्वरूप अशुभ शकुन होने लगे। उन्होंने उनकी कोई परवाह नहीं की, स्नानादि करके चक्रवर्ती की सारी सेना को साथ लेकर वहाँ से प्रस्थान किया। मार्ग में पर्यटन करते-करते जहाँ-जहाँ भी तीर्थस्थान आए उन सभी की यात्रा करते हुए अष्टापद तीर्थ के पास पहुँच गए। स्फटिक रत्नमय उस पर्वत पर आकाश तक ऊँचे शाश्वत् चैत्यों को देखकर अपने मंत्रियों से पूछा-इस तीर्थ को किसने बनाया है? तब मंत्रियों ने कहा-

'हे जह्नु कुमार ! तुम्हारे पूर्वज ऋषभदेव प्रभु हुए हैं जो कि भारत भूमि में धर्म

तीर्थ के आदि प्रवर्तक थे। उनका पुत्र भरत चक्रवर्ती निन्यानवें भाईयों में सबसे बड़ा था। इस अष्टापद तीर्थ पर 10 हजार साधुओं के साथ ऋषभदेव प्रभु मोक्ष पद को पाए थे। उनके निर्वाण के बाद भरतचक्री ने यहाँ पर रत्नमय पाषाणों का सिंह निषद्या नाम का चैत्य बनवाया था। उसमें ऋषभदेव भगवान और उनके बाद होने वाले 23 तीर्थंकरों के निर्दोष रत्नों के बिंब बनवाए हैं। प्रत्येक बिंब अपने देह प्रमाण संस्थान, वर्ण और चिन्हवाले हैं, इसी चैत्य में उसने अपने बाहुबली आदि निन्यानवें भाईयों की चरण पादुकाएं तथा मूर्तियाँ भी स्थापित कराई थीं। यहाँ ऋषभदेव भगवान का निर्वाण हुआ था। इसी पर्वत के चारों तरफ भरत ने आठ-आठ सोपान (सीढ़ियां) बनवाये थे। इसीलिए इसका नाम अष्टापद गिरि है। यह सब सुनकर सभी कुमार हर्षित हुए।

उस पर्वत को अपने पूर्वजों द्वारा निर्मित जानकर परिवार सहित सिंहनिषद्या चैत्य में गए। वहाँ पर सभी जिनबिंबों को श्रद्धायुक्त नमस्कार किया। अष्टप्रकारी पूजा की। द्रव्य भाव पूजा तथा आरती आदि करके प्रभु से प्रार्थना करने लगे-मेघ, वायु, चन्द्र तथा सूर्य की तरह सभी पर समदृष्टि रखनेवाले हे प्रभु आपका दर्शन करके हम धन्य बन गए, आप हमारा कल्याण करें।

इस प्रकार अरिहन्त प्रभु को नमन स्तुति करके सगर पुत्र मंदिर से बाहर निकले, फिर भरतचक्री के भ्राताओं के स्तूपों की वन्दना की।

श्रद्धा एवं भक्ति भावपूर्वक प्रभु भक्ति करके जैसे ही सभी बाहर निकले तो सभी के मन में एक ही विचार आया कि प्रतापी पूर्वज भरतचक्री ने महान तीर्थ पर मूल्यवान रत्नजड़ित जिनप्रतिमाओं को बनवाया है, स्वर्ण मंदिरों को बनवाया है कहीं दुषमकाल में इस महातीर्थ पर कोई भयंकर आपत्ति न आ जाए इसलिए अपने पूर्वजों की इस अलौकिक सम्पत्ति की रक्षा करनी चाहिए। क्योंकि भविष्य में दुषमकाल के प्रभाव से लोग अर्थलोलुप, सत्वहीन तथा कृत्याकृत्य के विचारों से हीन होंगे। इन सोने के मंदिर तथा रत्नों की प्रतिमाओं को देखकर लूट मचाएँगे तथा तीर्थ को नष्ट कर देंगे। अतः इसकी रक्षा करना हमारा परम कर्त्तव्य है।

साठ हजार भाईयों के मन में तीर्थरक्षा की भावना नृत्य करने लगी। परन्तु तीर्थ की रक्षा करनी कैसे ? इस पर विचार करने लगे। अन्त में सभी ने निर्णय किया कि दण्डरत्न के द्वारा अष्टापद के चारों तरफ गहरी खाई खोदी जाए जिससे यहाँ पर कोई आ नहीं सकेगा।

दण्डरत्न एक हजार देवों से अधिष्ठित था। सभी भाईयों ने उत्साहित होकर तीर्थरक्षा हेतु दंडरत्न को उठाया और चारों तरफ पृथ्वी को खोदने लगे। देखते ही देखते दंडरत्न ने एक हजार योजन गहरी खाई खोद डाली। इतनी अधिक गहरी खाई खोदने से भवनपति (नागकुमार) देवों के भवनों में भी मिट्टी पहुँच गई। भवन टूटने लगे। जिससे सारा नागलोक आकुल, व्याकुल हो उठा। यह देख भवनपति देवों का अधिपति ज्वलनप्रभ देव क्रोधित होकर सगरचक्री के पुत्रों के पास आया और कहने लगा– अरे ! यह तुम क्या कर रहे हो। तुम नागनिकाय के महान अपराधी हो, तुमने इतना अधिक खोदकर हमारे सभी भवनों को मलिन कर दिया है। तुम इस दण्डरत्न से क्या कर रहे हो और पृथ्वी को क्यों खोद रहे हो ? तब जह्नु कुमार ने कहा–'हे नागराज! हमने दण्डरत्न से अष्टापद तीर्थ की रक्षा करने के लिए इसके चारों तरफ खाई बनाई है। क्योंकि हमारे वंश के मूल पुरुष भरत चक्री ने रत्नमय चैत्य तथा तीर्थंकरों की सुन्दर प्रतिमाएँ बनवाई है। भविष्यकाल में लोग इसे हानि न पहुँचाएँ इसलिए इस तीर्थ की रक्षा हेतु अरिहंत भगवान की भक्तिवश हमने यह काम किया है। आपके भवनों को क्षति पहुँचाना हमारा लक्ष्य नहीं था। अतः आप हमारे अपराध को क्षमा करें।

विनय पूर्वक कही हुई जह्नुकुमार की बात को सुनकर नागकुमार बोला तुम इक्ष्वाकु कुल के मुकुट समान भरतचक्री के वंशज हो तथा तीर्थरक्षा के लिए तुमने यह किया है इसलिए तुम्हारा अपराध क्षमा करता हूँ आगे से ऐसा मत करना। इतना कह नागपति नागलोक में चला गया।

नागपति देव के जाने के बाद जह्नुकुमार को पुनः विचार आया और अपने भाईयों को कहने लगा कि यह खाई तो समय व्यतीत होने पर पुनः भर जाएगी और अपना सारा प्रयास निष्फल जाएगा। अतः हम इस खाई को गंगा नदी के प्रवाह से भर दें। सभी को यह विचार पसंद आया। तब जह्नुकुमार ने दण्डरत्न को हाथ में लेकर गंगा के किनारे को तोड़ दिया। किनारा टूटने से गंगा उसी समय छलकती हुई जल के वेग से अष्टापद गिरि के चारों तरफ बनाई गई एक हजार योजन खाई में समुद्र की भांति गिर गई। जह्नु के द्वारा अष्टापद की खाई को भरने के लिए गंगा नदी को लाया गया था। इसलिए इसका नाम जाह्नवी पड़ गया।

सारी खाई गंगा के निर्मल जल से भर गई। 60 हजार भाई तीर्थरक्षा की भावना पूरी हो जाने से हर्षित हो उठे। नाचने लगे कूदने लगे– ओह आज हमारी तीर्थयात्रा सफल और सार्थक हो गई, 60 हजार भाईयों के मन में तीर्थरक्षा का अनिर्वचनीय आनंद समा नहीं रहा था। परन्तु....

गंगा का जल प्रवाह इतनी तेजी से आया कि सारी खाई तो भर गई लेकिन पाताल लोक में खाई के छिद्रों के द्वारा नागकुमारों के मकानों में पानी भर गया। इससे सभी नागकुमार देवता व्याकुल होकर फुंकार करने लगे। तभी ज्वलनप्रभ इन्द्र क्रोधित होकर तुरन्त वहाँ पर आया, क्रोधित होकर बोला-'अरे मूर्ख! तुम पिता के वैभव से दुर्मद हो गए हो हमारे भवनों को नष्ट करने का एक अपराध तुम्हारा क्षमा कर दिया था। कोई सजा नहीं दी थी। अब तुम क्षमा करने योग्य नहीं हो। तुमने पुनः अपराध किया है इसकी पूरी सजा दूंगा।

सगर पुत्र उसकी कोपाग्नि से घबराए नहीं अपितु तीर्थरक्षा की पवित्र भावना के नीर में तल्लीन बन गए। उनके मुख से कुछ शब्द निकलने से पहले ही क्रोध से अंध बने हुए नागकुमारों के बदन में से भयंकर अग्नि की ज्वाला निकली जैसे अग्नि से घास के पूले जलते हैं वैसे ही सगरचक्री के पुत्र 60 हजार बन्धुओं की देह जलकर राख हो गई। उस समय चक्री की सेना में भयंकर हाहाकार मच गया। 60 हजार सगर पुत्रों को मौत के घाट उतारकर नागकुमार रसातल में चला गया। वहाँ के वातावरण में सन्नाटा छा गया।

तीर्थरक्षा के अनुपम ध्यान में तल्लीन बने हुए 60 हजार बन्धुओं का भौतिक देह का त्याग हो गया परन्तु तीर्थरक्षा के पुण्य प्रताप से उनकी आत्मा अच्युत नामक बारहवें देवलोक में गई। कर्त्तव्य रक्षा और तीर्थरक्षा की खातिर 60 हजार बंधुओं का बलिदान उनकी देह के लिए मारक बन गया परन्तु आत्मा के लिए महातारक बन गया।

चन्दन जल गया परन्तु सुगन्ध रह गई। अगणित वर्षों पहले हुआ सगर चक्रवर्ती के पुत्रों का भव्य बलिदान शास्त्र के पृष्ठों पर स्वर्णाक्षरों में अंकित हो गया। धन्य है इक्ष्वाकु कुल के ऐसे तेजस्वी रत्नों को। धन्य है सगरचक्री के आत्मज पुत्रों को जिन्होंने तीर्थरक्षा के लिए अपने प्राणों का बलिदान दे दिया।

कोटि-कोटि वंदन हो 60 हजार बन्धुओं को ! जिन्होंने अपना बलिदान देकर महातीर्थ अष्टापद की सुचारू सुरक्षा की।

....आईए हम सब भी पूजा-अर्चना-प्रभावना करके प्राचीन तीर्थों का संरक्षण करें...।

वीर विक्रमसिंह की वीरता

एक समय था, जब गिरिराज जिसे सिद्धाचल कहा जाता है, उस समय वहाँ का वातावरण घनघोर जंगलरूपी था। हरे भरे गिरिवर की गुफाओं में पशुगण निवास किया करते थे। एक बार एक सिंह गुफा का त्यागकर दादा आदीश्वर की टूंक के द्वार पर आ पहुँचा। उसने अपना अड्डा ही वहाँ जमा लिया। यात्रा के लिये आनेवाले यात्रालु जब दादा के दर्शन हेतु उपर चढ़ते और दादा आदीश्वर प्रभु के बाहर के भाग में सिंह को बैठा हुआ देखकर भयभीत हो जाते किसी की हिम्मत न होती कि आगे जाकर परमात्मा का दर्शन करें। सभी यात्रालुगण दूर से परमात्मा को वंदन नमस्कार कर वापिस नीचे उतर आते।

धीरे-धीरे भय के कारण यात्रिकों ने उपर जाना प्रायः बंद ही कर दिया। लोगों के मन में अत्यधिक बेचैनी रहने लगी। यात्रार्थ आने वाले तलहटी तक ही आते और ऊपर चढ़ने का कोई भी साहस न करते। तलहटी पर दिन रात वनराज की ही बातें चलती और सोचते वही दिन भाग्यशाली होगा जब दादा आदीश्वर प्रभु की सेवा-पूजा अर्चना भक्ति करेंगे। न जाने यात्रा कब प्रारंभ होगी?

इधर विक्रमसिंह नाम का युवक अपने भाई-भाभी के साथ रहने के लिए पालीताणा आया। युवक का शरीर हष्ट-पुष्ट था। मजाकी स्वभाव का था। मित्रगण के साथ ही अधिक समय व्यतीत करता। भाई-भाभी के कारण निश्चिततापूर्वक जीवन व्यतीत कर रहा था।

एक दिन विक्रमसिंह मित्रों के साथ दोपहर के समय घूमने के लिये गया। घूमने के पश्चात् जब घर वापिस आया तो भाभी घर पर नहीं थी। उसने रसोईघर में पूरी खोज-शोध की परन्तु खाने के लिये कोई भी वस्तु हाथ न लगी। अत्यधिक भूख लगी होने के कारण क्रोधित हो उठा। मुख पर क्रोध की लालिमा बढ़ गई। कोई घर पर था नहीं, जिस कारण क्रोध अंदर ही अंदर एकत्रित होता गया। इतने में कूएँ पर कपड़े धोकर भाभी घर पर पहुँची, उसे देखते ही उसका आवेश मुख के बहाने बाहर निकल पड़ा। भाभी पर क्रोध की वर्षा करते हुए बोला-''दोपहर हो चुकी है, अभी तक रसोई का कोई ठिकाना ही नहीं। दोपहर के समय भोजन तैयार करने का क्या तुमे ख्याल ही नहीं रहता। लगता है अब तुम बिल्कुल आलसी हो गई हो।

एक तो इतनी दूर कूएँ पर कपड़े धोकर आई थी, आते ही देवर के आक्रोश

भरे वचनों को सुनकर वह भी चुप न रह सकी। उसने भी समाने से जोरदार जवाब देते हुए कहा–प्रतिदिन भोजन समय पर तैयार मिलता है, कभी–कभार रसोई में देरी भी हो गई तो मेरे उपर काहे का गुस्सा कर रहे हो? कमाकर तो घर में एक भी पैसा नहीं लाना। सारा दिन घूमते ही रहता है। भोजन के समय भोजन के लिये घर पर पहुँच जाना, यह किस घर का न्याय है? मेहनत मजदूरी बड़ा भाई करे और रौब मेरे ऊपर तुम डालो। कोई शूरवीरता का काम करते और मेरे उपर रौब डालते तो जायज था। अभी तो युवा हो। यदि भुजाओं में जोर है तो जाओ गिरिराज पर, वहाँ सिंह अड्डा जमाकर बैठा हुआ है, उसे भगाकर आओ फिर डालना रौब तब, सब सहन करूंगी।

आज भाभी की जुबां से बंदूक की गोली के समान निकले शब्दों ने मानो विक्रमसिंह के हृदय को फाड़ डाला। उसका मन संकल्प विकल्पाधीन बन गया। भोजन भी न करके, पल का विलम्ब किये बिना घर में से भागा और पहुँच गया तलहटी पर।

तलहटी पर उसके मित्रगण खड़े थे। जब उन्होंने अचानक विक्रमसिंह को दोपहर के समय तलहटी पर देखा तो आश्चर्यचकित हो उठे और पूछा–मित्र। कहो ! आज यहाँ दोपहर के समय तलहटी पर कैसे आना हुआ? क्या कोई विशेष या आवश्यक कार्य है? क्योंकि विक्रमसिंह अभी–अभी तो मित्रों के साथ घूमकर घर गया था। थोड़े ही समय बाद पुनः लौट आया इसी कारण उन्हें आश्चर्य हुआ। वह मित्र तो तलहटी के पास ही रहते थे। विक्रमसिंह ने कहा–मित्रों! आज मैं एक आवश्यक कार्य के लिये ही यहाँ पर आया हूँ। महिनों से यात्रा बंद हो चुकी है। भाभी के वचनों से मेरी भुजाओं में शौर्य जाग उठा है। आज मैं वनराज को मारूंगा, नहीं तो स्वयं मरूंगा। मित्रों! अगर आप को घंट का आवाज सुनाई दे तो समझ लेना कि सिंह मर गया और यात्रा खुल गई है। अगर घंट न बजा तो समझ लेना कि विक्रमसिंह मर गया। वह शब्द सुनते ही मित्रों ने कहा– 'विक्रमसिंह! वनराज सिंह को मारना सरल नहीं है। तुमसे वह अधिक बलशाली है। कहाँ सिंह का बल और कहाँ तुम्हारा? अतः मित्र ! ऐसा दुस्साहस मत करो। घर में बातें हो जाती हैं पर कार्य, शक्ति देखकर ही करना चाहिये।'

विक्रमसिंह ने कहा–''मित्रों ! मेरी भाभी ने तो मुझमें शूरवीरता एवं उत्साह को जगाया है। आज मेरे मन में एक ही तमन्ना है कि दीर्घकाल से बंद यात्रा को

खोलकर सभी को दादा के दर्शन कराने का निमित्त बनूं। वस्तुतः जब मन में किसी भी कार्य को करने की तमन्ना जागृत हो जाती है तो सभी इन्द्रियां सचेत बन जाती हैं। उस कार्य को पूर्ण करने के लिये श्रम या थकावट भी महसूस नहीं होती।'

मित्रों के मना करने पर भी विक्रमसिंह परमात्मा का स्मरण करता हुआ व दादा को याद करता हुआ पर्वत पर चढ़ने लगा। मित्रगण वहीं निराश होकर बैठ गये।

धीरे-धीरे पर्वत पर चढ़ता हुआ विक्रमसिंह परमात्मा के दरबार के पास पहुँच गया। उस समय उसने सिंह को वहाँ सोये हुए देखा। सोचने लगा- अगर मैंने सोये हुए सिंह को मारा तो अन्याय कहा जायेगा। इसलिये पहले इसे जगाना चाहिये। जागने के बाद इसके साथ जंग (युद्ध) करूंगा। हाथ में पकड़े हुए डंडे को जमीन पर जोर से लगाया तो आवज को सुनते ही सोया हुआ सिंह जाग उठा। सिंह को भी आज बहुत दिनों के बाद नरमांस की गंध आई। उसने अपने केशों को खुजलाया और उठा। उठते ही पीछे खड़े नर को देख पल का विलम्ब किये बिना विक्रमसिंह पर हमला कर दिया। विक्रमसिंह ने भी सामने से सीधा ऐसा जोर से प्रहार किया कि वह सिंह जमीन पर लुढ़क गया और तड़पने लगा। उधर विक्रमसिंह घंट बजाने के लिए जैसे ही मंदिर की ओर भागा, उतने में ही घायल हुआ सिंह उठा और विक्रमसिंह पर फिर हमला किया। विक्रमसिंह खून से लथपथ हो गया। उसको मरा जान सिंह वापस जा रहा था, मार्ग में ही सिंह के प्राण निकल गये। वीर विक्रमसिंह से भी उठा नहीं जा रहा था। मन मजबूत कर बड़ी मुश्किल से उठा, मंदिर तक पहुँच कर घंटनाद किया, ट-न-न-न-टन-टन-न-न-टन।

घंटनाद का स्वर नीचे तहलटी पर बैठे मित्रों ने सुना और सोचा! अवश्य हमारे मित्र ने सिंह के साथ पराक्रम से खेला और वह विजयी बना। मन में प्रसन्नता को धारण करते हुए मित्र को बधाई देने हेतु पर्वत पर चढ़े। मार्ग में मित्र के इस पराक्रम शौर्य की प्रशंसा करने लगे। और कहने लगे कि वह भी नीचे उतर रहा होगा। जब वह ऊपर पहुँचे तो वहाँ का दृश्य देखकर आश्चर्याभिभूत हो गये कि एक ओर तो सिंह मरा हुआ है और दूसरी ओर मित्र विक्रमसिंह। मित्रों ने उसे खूब हिलाया पर वह तो उठा ही नहीं। मित्रों को समझते देरी न लगी-यह सब कैसे हुआ? जरुर हमारे मित्र ने पहले सिंह के साथ मुकाबला किया होगा, घंट बजाकर स्वयं भी सिंह द्वारा घायल बना होगा और ऐसी स्थिति में मरण को प्राप्त हुआ। इस का शरीर भी खून से लथपथ है अतः सिंह ने इसे भी घायल किया है।

मित्रगण उस के पास बैठे आँखों से आँसू बहाते हुए कहने लगे–मित्र! तुम दादा की यात्रा को खोलते हुए संसार से विदा हो गए। पर्वत से नीचे उतरकर सभी को घटना सुनाई। उसके पश्चात् हजारों नर–नारी गिरिराज की यात्रा के लिये जाने लगे।

वीर विक्रमसिंह की वीरता की स्मृति रूप में हाथीपोल के आगे चौक में नीम के वृक्ष के नीचे 'वीर विक्रमसिंह का पालीयो' आज भी स्थित है जिसे देखकर उस की याद तरोताज़ा बन जाती है।

भाभी के एक वचन से विक्रमसिंह ने कैसा पराक्रम दिखाया। स्वयं का बलिदान देकर दादा के दर्शन का सौभाग्य देता गया। ऐसे व्यक्ति ही इतिहास के पन्नों पर स्वर्णाक्षर में लिखे जाते हैं।

तिलक हेतु बलिदान

अनन्तकाल व्यतीत हो गया, यह आत्मा दर-दर की ठोकरें खाती हुई ऊँच-नीच गतियों में भ्रमण कर रही है। कभी इन्द्र की गुलाम बनी तो कभी राजा की दास बनी। कभी सेठ की सेवक बनी तो कभी स्त्री की गुलाम बनी। गुलामी का कारण यही था कि आज तक हमने परमात्मा की शरण को स्वीकार नहीं किया। परमात्मा के पावन चरणों में झुके नहीं। अब इस भव में मौका मिला है परमात्मा को मालिक के रूप में स्वीकार करने का उस स्वीकृति के रूप में मस्तक पर तिलक करें और प्रभु को कहें - 'हे प्रभु ! इस दुनियाँ में आप ही एक मेरे नाथ हैं। आप मेरे स्वामी हैं, मैं आपका सेवक हूँ। प्रभु की आज्ञा ही मेरी साँस और प्राण है।'

मानव का मस्तिष्क विचारशक्ति का एक ऐसा धाम है जहाँ हर पल विचारों का चलना जारी रहता है। विश्व के समस्त शुभाशुभ भावों का केन्द्रस्थान मस्तिष्क ही है। इस पर परमात्मा की कृपा दृष्टि बरसती रहे, मन में कभी काले विचार पैदा न हों इसी उद्देश्य से परमात्मा के स्मृति चिन्ह के रूप में तिलक एक अति आवश्यक प्रक्रिया है।

जिस प्रकार सौभाग्यवती (सधवा) स्त्री के माथे पर बिंदिया यह घोषणा करती है कि मेरे पति मौजूद हैं। जब तक वे जीवित रहेंगे तब तक मेरे मस्तक की बिंदिया भी सलामत रहेगी। इसी प्रकार भक्त ललाट का तिलक सूचित करता है कि जिनेश्वर परमात्मा मेरे मालिक हैं। वे सदा-सदा जीवित रहने वाले हैं इसी लिए मेरे ललाट का तिलक भी हमेशा चमकता रहनेवाला है किसी की ताकत नहीं इसे मिटा सके। इस तिलक की रक्षा के लिये कितने लोगों ने बलिदान दिया। उनमें से एक अमरगाथा नीचे दी है।

गुजरात में पाटन नगर के महाराजा परमार्हत् कुमारपाल की मृत्यु के पश्चात् अजयपाल वहाँ का सम्राट बना। वह धर्म द्वेषी था। कुमारपाल की कीर्ति पताका को नष्ट-भ्रष्ट करने का जुनून उस पर चढ़ गया था। उसका कपर्दी मंत्री आदि अन्य व्यक्ति सदा प्रभु मंदिर जाकर परमात्मा की आज्ञारूप मस्तक पर तिलक धारण करके पूजा अर्चना करके राजदरबार में आते थे। एक दिन अजयपाल ने कपर्दी मंत्री को सम्बोधित करके कहा कि 'मंत्रीश्वर! तुम्हारा जैन धर्म का तिलक मुझे बिल्कुल अच्छा नहीं लगता अतः इस तिलक को मिटा दीजिए।' मंत्री बोला- 'राजन ! यह कभी नहीं हो सकता।' क्रोधावेश में अजयपाल ने कहा-'क्या

अजयपाल की आज्ञा को भंग करनेवाले को अयजपाल के गुस्से का ध्यान नहीं है? मेरी आज्ञा है कि यह तिलक लगाना छोड़ दो।'

राजा ने सेवकों को आज्ञा दी, कि जाओ! सारे पाटण में यह घोषणा कर दो कि 'जैन धर्मी लोगों। कान खोलकर सुन लो कि या तो मस्तक का पीला तिलक छोड़ दो या पाटण की भूमि को छोड़ दो।' राजा की आज्ञानुसार घोषणा हो गई।

दूसरे दिन प्रातःकाल राजसभा में पुनः मंत्री कपर्दी ने प्रभु आज्ञा का तिलक मस्तक पर लगाकर प्रवेश किया। राजा अजयपाल कपर्दी के तिलक को देखते ही बोल उठा हे मंत्रीश्वर! मेरी आज्ञा का तुमने अनादर किया है। अब तो तुम्हें कठोर दण्ड दिया जाएगा। अभी भी कहता हूँ कि या तो पीला केसर का तिलक छोड़ दो या पाटण को छोड़ दो। यदि दोनों मंजूर नहीं तो उबलते हुए तेल की कड़ाई में तलने के लिए तैयार हो जाओ।

राज्यसभा के बाहर निकलने के बाद मंत्रीश्वर ने जैन संघ की सभा बुलाई और सभी के समक्ष अजयपाल का संदेश सुना दिया और कह भी दिया कि परमात्मा की आज्ञा का तिलक कभी भी मिटेगा नहीं। जहाँ हजारों जिनालय हैं 'तथा जिन प्रतिमाएं विद्यमान हैं उस पाटण की भूमि को भी छोड़ा नहीं जा सकता। अब उबलते हुए तेल की कढ़ाई में बलिदान ही एकमात्र उपाय है। तिलक की रक्षा के लिये बलिदान आवश्यक है। सभी उपस्थित नवयुवकों से मैं निवेदन करता हूँ कि तिलक रक्षा हेतु बलिदान के लिए अपना नाम सहर्ष लिखाएँ।'

इतना सुनते ही तुरन्त नवविवाहित युवक युवतीयों का सजोड़े नाम लिखने का काम प्रारंभ हो गया। सभी एकदम बोलने लगे-'मंत्रीश्वर! पहले मेरा नाम लिखो, पहले मेरा नाम लिखो।' तिलक के प्रति वफादारी प्रकट करनेवाले नवयुवक युगलों की नामावली से कागज और कलम भी छोटी पड़ गई।

रात्रि व्यतीत हुई। प्रातःकाल बलिदान की अमरगाथा उत्कीर्ण करनेवाले युवकों के सत्त्व को देखने के लिए सूर्य देवता बाहर निकले, धरती को अपनी किरणों से उज्ज्वल बना दिया। दरबार भरने की सूचना घंटा बजाकर दी गई। देखते-देखते हजारों नर-नारी सभा मंडल में उपस्थित होने लगे।

मस्तमुद्रा में अजयपाल ने भी राजसभा में प्रवेश किया और सिंहासन पर आरूढ़ हुआ।

अनेक जैन धर्मी नवयुवक स्नान करके, तिलक धारण करके, जिनपूजा करके

उत्तम प्रकार के वस्त्र पहनकर बलिदान हेतु प्रयाण करने लगे। माता-पिता ने पुत्रों तथा पुत्रवधुओं को दोनों हाथों से आशीष दिया। बहनों ने मस्तक पर कुंकुम का तिलक करके पानी का कलश सिर पर धारण करके शुभ शकुन दिया।

सिंह की चाल को भी लज्जित करे इस प्रकार उन नवयुवकों ने कपर्दी मंत्री के साथ 'तिलक अमर रहे, तिलक अमर रहे'' के गगनभेदी दिव्यनाद के साथ राज सभा में प्रवेश किया। तारों के समान नवयुवकों के मस्तकों पर स्थित तिलक चारों और चमकने लगे। जिससे अजयपाल का हृदय जलने लगा।

अजयपाल के संकेत से राजसभा के प्रांगण में भड़भड़ाती होली के समान आग प्रज्ज्वलित की गई। उस पर विशाल कढ़ाही रखकर तेल से भर दिया गया। अजयपाल सत्ता की मद में चूर होकर बोला-'सैनिकों ! पीले तिलक वालों को उठा-उठाकर इस उबलते हुए तेल की कढ़ाही में डाल दो। ''इतना सुनते ही जैन युवकों ने कहा-''नहीं महाराज! हमें पकड़ने और उठाने की जरूरत नहीं है हम स्वयं ही इस कढ़ाही में प्रविष्ट हो जाएँगे।''

नवकार मंत्र का स्मरण करके नवयुवकों ने कूदना आरंभ किया। 'तिलक अमर रहे' के इस दिव्यनाद और नारों के बीच वे तेल में पकौड़ों की भांति तलते रहे। स्तम्भित बना अजयपाल का क्रूर हृदय सब देखता रह गया।

एक... दो... तीन...चार...ग्यारह... बारह... तेरह.... अठारह.... उन्नीस युगलों द्वारा इतिहास के पृष्ठों पर बलिदान की अमरगाथा स्वर्णाक्षरों में अंकित किए जाने पर मंत्रीश्वर कपर्दी स्वयं बलिदान देने के लिए पत्नी सहित आगे कदम बढ़ाने लगे तब अजयपाल स्वयं को रोक नहीं पाया, उन्नीस जोड़ों की निर्दयी मौत से वह अन्दर ही अंदर कांप उठा। मंत्री के समीप जाकर कांपती आवाज से बोला- 'हे कपर्दी ! बस करो.... बस करो... मुझसे अब यह नहीं देखा जाता। मेरा क्रूर हृदय पिघल गया। अब यह पाप मुझे नहीं करना है। आपका तिलक चिरकाल तक सलामत रहे मैं तिलक हेतु अभयदान देता हूँ।

सभा में जयघोष गुंजित हो गया-

जिन शासन देव की जय, शहीदों अमर रहो,

बलिदानियाँ अमर रहो, तिलक जयवंता हो।

जिसके रक्षण के लिए प्राणों की आहुतियाँ हुई है वह तिलक निश्चय ही हमारे मस्तक का भूषण है। ओ श्रावकों ! जिस चीज को छोड़ना पड़े उसको छोड़ देना लेकिन तिलक को कभी मत छोड़ना। परन्तु जिनेश्वरप्रभु की आज्ञा साम्राज्य के प्रतीक स्वरूप तिलक को कभी नहीं छोड़ना।

आधार ग्रंथ-

विशेष जानने हेतु निम्नोक्त पुस्तकों का अवलोकन करें।

	पुस्तक के नाम	लेखक/संपादक
1.	जैनागम सिद्ध मूर्तिपूजा	भूषण शाह
2.	जैनत्व जागरण	भूषण शाह
3.	हाँ ! मूर्तिपूजा शास्त्रोक्त है।	पू. ज्ञानसुंदर विजयजी म.
4.	लोंकागच्छ और स्थानकवासी	पू. पं. कल्याणविजयजी म.
5.	मूर्तिपूजा का प्राचीन इतिहास	पू. ज्ञानसुन्दरविजयजी म.
6.	सांच को आंच नहीं	भूषण शाह
7.	श्रीमान् लोंकाशाह	पू. ज्ञानसुन्दरविजयजी म.
8.	क्या धर्म में हिंसा दोषावह है?	भूषण शाह
9.	नवयुग निर्माता	पू. आ. वल्लभ सू. म.
10.	क्या जिनपूजा पाप है?	पू. आ. अभयशेखर सू. म.
11.	उन्मार्ग छोड़िए... सन्मार्ग भजीए	पं. शांतिलालजी
12.	जड़पूजा या गुण पूजा	पं. शान्तिलाल शाह
13.	ढुंढक मत हितशिक्षा	पू. आ.वल्लभ सू.म.
14.	जिन प्रतिमा पूजन रहस्य	अभ्यासी
15.	तत्व निश्चय	हीरालाल दुग्गड़
16.	गयवर विलास रास	पू. ज्ञानसुंदर विजयजी म.
17.	प्रतिमा पूजन	पू. पं. भद्रंकरवि. म.
18.	क्या आगमों में मंदिर की मान्यता है?	पू. ज्ञानसुंदर विजयजी म.
19.	मूर्तिपूजा सिद्धि	पू. आ. सुशीलसू. म.
20.	पूर्नजन्म	भूषण शाह
21.	मूर्तिपूजा	खुबचंदभाई पंडित
22.	आ पत्थर नथी पण प्रभु छे	पू. प्र. हरिशभद्र वि.म.
23.	जिनशासन नी अहिंसा	पू. आ. योगतिलकसू. म.
24.	मूर्ति मंडन	पू. आ. लब्धि सू. म.
25.	कमजोर कडी कौन?	पू. आ. जिनपियूषसागरजी म.

26.	सच्चाई छुपाने से सावधान!	पू.आ. पीयूषसागरजी म.
27.	प्रतिमा पूजन पच्चीशी	पू. आ. जिनमणिप्रभ सूरि म.
28.	सिद्ध प्रतिमा मुक्तावली	पू. आ. जितेन्द्रसूरिजी म.सा.
29.	प्रश्न कई उत्तर नहीं	श्रावक गण
30.	सम्यक्त्व शल्योद्धार	पू. आत्मारामजी म.सा.
31.	मुहपत्ती चर्चा	पू. बुद्धिविजयजी म.सा.
32.	भक्ति है मार्ग मुक्ति का	पू. आ. कलापूर्ण सू. म.सा.
33.	प्रतिमाशतक	महो. यशोविजयजी म.सा.
34.	अष्टप्रकारी पूजा का रास	सा. दिव्यदर्शनाश्रीजी म.सा.
35.	द्रव्यपूजा एवं भावपूजा का समन्वय	भूषण शाह
36.	मूर्तिपूजा विधि संग्रह	प. कल्याण वि. म.सा.
37.	मध्य एशिया और पंजाब में जैन धर्म	हीरालाल दुग्गड़
38.	गप्प दीपिका समीर	प. आ. वल्लभ सू. म.
39.	मूर्ति से मूर्तिमान की पूजा	पू. विद्यानंदजी म.सा.

मिशन जैनत्व जागरण द्वारा प्रसारित साहित्य
भूषण शाह द्वारा लिखित/संपादित हिन्दी पुस्तक

	मूल्य
1. जैनागम सिद्ध मूर्तिपूजा	100/-
2. जैनत्व जागरण	200/-
3. जागे रे जैन संघ	30/-
4. पाकिस्तान में जैन मंदिर	100/-
5. पल्लीवाल जैन इतिहास	100/-
6. दिगंबर संप्रदाय एक अध्ययन	100/-
7. श्रीमहाकालिका कल्प एवं प्राचिन तीर्थ पावागढ़	100/-
8. अकबर प्रतिबोधक कौन ?	50/-
9. इतिहास गवाह है।	30/-
10. तपागच्छ इतिहास	100/-
11. सांच को आंच नहीं	100/-
12. आगम प्रश्नोत्तरी	20/-
13. जगजयवंत जीरावला	100/-
14. द्रव्यपूजा एवं भावपूजा का समन्वय	50/-
15. प्रभुवीर की श्रमण परंपरा	20/-
16. इतिहास के आइने में आ. अभयदेवसूरिजी का गच्छ	100/-
17. जिनमंदिर एवं जिनबिंब की सार्थकता	100/-
18. जहाँ नमस्कार वहाँ चमत्कर	50/-
19. प्रतिमा पूजन रहस्य	300/-
20. जैनत्व जागरण भाग-2	200/-
21. जिनपूजा विधि एवं जिनभक्तों की गौरवगाथा	200/-
22. अनुपमंडल और हमारा संघ	100/-

भूषण शाह द्वारा लिखित/संपादित गुजराती पुस्तक

१. मंत्रं संसार सारं	२००/-
२. जंबू जिनालय शुद्धिकरण	३०/-
३. जागे रे जैन संघ	२०/-
४. घंटनाद	
५. श्रुत रत्नाकर (पू.गुरुदेव जंबूविजयजी म.सा. नुं. जीवन चरित्र)	

भूषण शाह द्वारा संपादित अंग्रेजी पुस्तक

1. Lights	300/-
2. History of Jainism	300/-

डॉ. प्रीतमबेन सिंघवी द्वारा लिखित/संपादित

	मूल्य
1. समत्वयोग (1996)	100/-
2. अनेकांतवाद (1999)	100/-
3. अणुपेहा (2001)	100/-
4. आणंदा (1999)	50/-
5. सदयवत्स कथानकम् (1999)	50/-
6. संप्रतिनृप चरित्रम् (1999)	50/-
7. दान एक अमृतमयी परंपरा (2012)	310/-
8. हिन्दी जैन साहित्य में कृष्ण का स्वरूप (1992)	100/-
9. दोहा पाहुडं (1999)	50/-
10. बाराक्खर कवक (1997)	50/-
11. प्रभुवीर का अंतिम संदेश(2000)	50/-
12. दोहाणुपेहा (संपादित-1998)	50/-
13. तरंगवती (1999)	50/-
14. हरिवंशपुराण	-
१५. नंदावर्त नुं नंदनवन (२००३)	50/-

डॉ. प्रीतमबेन सिंघवी द्वारा अनुवादित

1. संवेदन की सरगम (2007)50/-
2. संवेदन की सुवास (2008)50/-
3. संवेदन की झलक (2008)50/-
4. संवेदन की मस्ती (2007)50/-
5. आत्मकथाएँ (संपादित) (2013) 50/-
6. शासन सम्राट(जीवन परिचय) 199950/-
7. विद्युत सजीव या निर्जीव (1999) 50/-

प. पू. मुनिराज ज्ञानसुंदरजी म.सा. द्वारा लिखित साहित्य

1.	मूर्तिपूजा का प्राचिन इतिहास	100/-
2.	श्रीमान् लोंकाशाह	100/-
3.	हाँ ! मूर्तिपूजा शास्त्रोक्त है	30/-
4.	सिद्ध प्रतिमा मुक्तावली	100/-
5.	बत्तीस आगम सूत्रों से मूर्तिपूजा सिद्धि	50/-
6.	क्या जैन धर्म में प्रभु-दर्शन-पूजन की मान्यता थी ?	50/-

अन्य साहित्य

1.	नवयुग निर्माता (पुनः प्रकाशन) (पू.आ.वल्लभसूरि म.सा.)	200/-
2.	मूर्तिपूजा (गुजराती-खुबचंदजी पंडित)	50/-
3.	लोंकागच्छ और स्थानकवासी (पू. कल्याण वि. म.)	100/-
4.	हमारे गुरुदेव (पू. जंबूविजयजी म.सा. का जीवन)	30/-
5.	सफलता का रहस्य - सा. नंदीयशाश्रीजी म.सा.	20/-
6.	क्या जिनपूजा करना पाप है ? (पू.आ. अभयशेखरसूरिजी म.सा.)	30/-
7.	जैन शासन की आदर्श घटनाएँ (सं.पू.आ. जितेन्द्रसूरिजी म.सा.)	30/-
8.	उन्मार्ग छोडिए, सन्मार्ग भजीए (पं. शांतिलालजी जैन)	30/-
9.	जड़पूजा या गुणपूजा - एक स्पष्टीकरण (हजारीमलजी)	30/-
10.	पुनर्जन्म - (सं.पू.आ. जितेन्द्रसूरिजी म.सा.)	30/-
11.	क्या धर्म में हिंसा दोषाव्ह है ?	30/-
12.	तत्त्व निश्चय (कुए की गुंजार पुस्तक की समीक्षा)	--
13.	चलो कदम उठाएँ (सं. पू.मु. ऋषभरत्न वि.म.सा.)	50/-
14.	जिनमन्दिर ध्वजारोहण विधि-सं. जे.के. संघवी/सोहनलालजी सुराणा	

चल रहे कार्य

1. जैन इतिहास (श्री आदिनाथ परमात्मा से अभी तक)
2. सूरि मंत्र कल्प

।। जैन शासन–जैनागम जयकारा।।

संपादित ग्रंथों की सूचि : (प्रकाशनाधीन)

1. जैन दर्शन का रहस्य
2. प्राचिन जैन तीर्थ – अंटाली
3. श्री सराक जैन इतिहास
4. जैन दर्शन में अष्टांग निमित्त भाग 1,4,5 (साथ में)
5. जैन दर्शन में अष्टांग निमित्त भाग 2,3 (साथ में)
6. जैन स्तोत्र संग्रह
7. जैन नगरी तारातंबोल – एक रहस्य
8. Research on Jainism
9. मिशन जैनत्व जागरण और मेरे विचार
10. जैन ग्रंथ– नयचक्रसार
11. प्राचीन जैन पूजा विधि– एक अध्ययन
12. जैनत्व जागरण की शौर्य कथाएँ
13. जैनागम अंश
14. जैन शासन का मुगल काल और मुगल फरमान
15. जैन योग और ध्यान
16. जैन स्मारकों के प्राचिन अंश
17. યુગ યુગમાં મળજો જૈન શાસન (ગુજરાતી)
18. मंत्रं संसार सारं (भाग –2) (पुनः प्रकाशन)
19. मंत्रं संसार सारं (भाग –3) (पुनः प्रकाशन)
20. मंत्रं संसार सारं (भाग –4) (पुनः प्रकाशन)
21. मंत्रं संसार सारं (भाग –5) (पुनः प्रकाशन)
22. अज्ञात जैन तीर्थ
23. प्राचीन जैन स्मारकों का रहस्य
24. जैन दर्शन – अध्ययन एवं चिंतन
25. जैन मंदिर शुद्धिकरण
26. सूरिमंत्र कल्प संग्रह

27. अजमेर प्रांत के जैन मंदिर
28. जैनत्व जागरण – 3
29. विविध तीर्थ कल्पों का अध्ययन
30. जैनदेवी महालक्ष्मी–मंत्रकल्प
31. जैन सम्राट संप्रति – एक अध्ययन
32. जैन आराधना विधि संग्रह
૩૩. જૈન ધર્મનો ભવ્ય ભૂતકાળ (ભાગ-૧, ગુજરાતી)
૩૪. જૈન ધર્મનો ભવ્ય ભૂતકાળ (ભાગ-૨, ગુજરાતી)
૩૫. જૈન ધર્મનો ભવ્ય ભૂતકાળ (ભાગ-૩, ગુજરાતી)
૩૬. જૈન ધર્મનો ભવ્ય ભૂતકાળ (ભાગ-૪, ગુજરાતી)
૩૭. જૈન ધર્મનો ભવ્ય ભૂતકાળ (ભાગ-૫, ગુજરાતી)
38. सम्मेतशिखर महात्म्य सार
39. मेवाड़ देश में जैन धर्म
40. જંબૂ શ્રુત એન્સાયક્લોપિડિયા (પૂ. ગુરૂદેવશ્રી ને સમર્પિત શ્રુત પુષ્પ)
41. जैन धर्म और स्वराज्य
42. ચંદ્રોદય (પૂ. સા. ચંદ્રોદયાશ્રીજી મ.સા. નું જીવનકવન)
43. जैन श्राविका शान्तला
44. પૂ. બાપજી મહારાજ (સંઘસ્થવિર આ. ભ. સિદ્ધિસૂરિજી મ.સા.નું ચરિત્ર)
45. મારા ગુરૂદેવ (પૂ. જંબૂવિજયજી મ.સા. નું સંક્ષિપ્ત જીવન દર્શન)
46. જૈન દર્શન અને મારા વિચાર
47. श्री भद्रबाहु संहिता – (आ. भद्रबाहु स्वामी द्वारा निमित्त ज्ञान प्रकरण)
48. પ્રશસ્તિ સંગ્રહ (પ. પૂ. ગુરૂદેવ જંબૂવિજયજી મ.સા. દ્વારા લખાયેલી પ્રશસ્તિ-પ્રસ્તાવના સંગ્રહ)
49. ગુરૂમૂર્તિ-દેવીદેવતા મૂર્તિ અંગે વિચારણા...

*** नोंध – सभी ग्रंथों का कार्य पूर्ण हो चुका है। सभी ग्रंथ जल्द ही प्रकाशित होंगे।**

प.पू. पंजाब देशोद्धारक आ. विजयानंद सू. म. (आत्मारामजी म.) का सन्मार्गदर्शक साहित्य

1.	सम्यक्त्व शल्योद्धार	325/-
2.	नवयुग निर्माता	200/-
3.	जैन तत्त्वादर्श	300/-
4.	जैन धर्म विषयक प्रश्नोत्तर	200/-
5.	जैन मत वृक्ष और पद्य साहित्य	200/-
6.	जैन मत का स्वरूप	125/-
7.	नवतत्त्व संग्रह	300/-
8.	ईसाईमत समीक्षा	100/-
9.	चिकागो प्रश्नोत्तर	100/-
10.	अज्ञानतिमिर भास्कर	500/-
11.	तत्त्व निर्णय प्रसाद	500/-

प.पू. मुनिराज ज्ञानसुंदरजी म.सा. द्वारा लिखित साहित्य

1.	मूर्तिपूजा का प्राचीन इतिहास	100/-
2.	श्रीमान् लौंकाशाह	100/-
3.	हाँ ! मूर्तिपूजा शास्त्रोक्त है	30/-
4.	सिद्ध प्रतिमा मुक्तावली	100/-
5.	क्या जैन धर्म में प्रभु दर्शन - पूजन की मान्यता थी ?	50/-
6.	जैन जाति महोदय	400/-

पू. गुरुदेवमुनिराजश्री - भुवनविजयान्तेवासि - मु. श्री जंबूविजयजी म. संशोधित - संपादित ग्रंथो

1.	द्वादशारनयचक्र भाग-1	300/-
2.	द्वादशारनयचक्र भाग-2	300/-
3.	द्वादशारनयचक्र भाग-3	300/-
4.	आचारांगसूत्र मूलमात्र	300/-

5. सूत्रकृतांगसूत्र मूलमात्र 300/-
6. स्थानांग तथा समवायांगसूत्र मूलमात्र 300/-
7. ज्ञाताधर्मकथाङ्गसूत्र मूलमात्र 300/-
8. अनुयोगद्वार सूत्र चूर्णि, हारिभद्री वृत्ति तथा मलधारिहेमचन्द्रसूरिविरचितवृत्ति सहित भाग-1 300/-
9. अनुयोगद्वार सूत्र चूर्णि, हारिभद्री वृत्ति तथा मलधारिहेमचन्द्रसूरिविरचितवृत्ति सहित भाग-2 300/-
10. स्थानाङ्गसूत्र अभयदेवसूरिविरचितवृत्ति सहित भाग-1 300/-
11. स्थानाङ्गसूत्र अभयदेवसूरिविरचितवृत्ति सहित भाग-2 300/-
12. स्थानाङ्गसूत्र अभयदेवसूरिविरचितवृत्ति सहित भाग-3 300/-
13. समवायाङ्गसूत्र अभयदेवसूरिविरचितवृत्ति सहित 300/-
14. द्रव्यालंकार स्वोपज्ञटीकासहित 300/-
15. न्यायप्रवेशक बौद्धाचार्य दिङ्नाग प्रणीत 300/-
16. सर्वसिद्धान्त प्रदेशक 300/-
17. योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्तिसहित भाग-1 300/-
18. योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्तिसहित भाग-2 300/-
19. योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्तिसहित भाग-3 300/-
20. पाटणना जुदा - जुदा भंडारोना हस्तलिखित ग्रंथोनुं सूचिपत्र भाग-1 300/-
21. पाटना जुदा - जुदा भंडारोना हस्तलिखित ग्रंथोनुं सूचिपत्र भाग-2 300/-
22. पाटना जुदा - जुदा भंडारोना हस्तलिखित ग्रंथोनुं सूचिपत्र भाग-3 300/-
23. पाटना जुदा - जुदा भंडारोना हस्तलिखित ग्रंथोनुं सूचिपत्र भाग-4 300/-
24. जैसलमेरना भंडारनुं सूचिपत्र 300/-

25. धर्मबिन्दु (कर्ता-हिरभद्रसूरि म.)
मुनिचन्द्रसूरिविरचितटीकासहित 300/-

26. सिद्धहेमचंद्रशब्दानुशासन-लघुवृत्ति (प्र. आवृत्ति) 300/-

27. सिद्धहेमचंद्रशब्दानुशासन-लघुवृत्ति (प्र. आवृत्ति) 300/-

28. सिद्धहेमचंद्रशब्दानुशासन रहस्यवृत्ति 300/-

29. सिद्धहेमचंद्रशब्दानुशासन (मूलसूत्रो अकारादिक्रम युक्त) 300/-

30. वैशेषिकसूत्र - चन्द्रानन्दविरचितवृत्तिसहित 300/-

31. उपदेशमाला - हेयोपादेयाटीका सहित 300/-

32. स्थानांगसूत्र सटीक भाग-1 (द्वितीय आवृत्ति) 300/-

33. स्थानांगसूत्र सटीक भाग-2 (द्वितीय आवृत्ति) 300/-

34. स्थानांगसूत्र सटीक भाग-3 (द्वितीय आवृत्ति) 300/-

35. योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्तिसहित भाग-1 (द्वितीय आ.) 300/-

36. योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्तिसहित भाग-2 (द्वितीय आ.) 300/-

37. योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्तिसहित भाग-3 (द्वितीय आ.) 300/-

38. ठाणांगसमवायांगसुत्तं च (शीलांकाचार्य कृत्त टीकोषेत) 300/-

39. आचारांगसूत्रकृतांगसूत्र सटीक 300/-

40. आचारांगसूत्र (शीलाचार्यकृतवृत्ति युक्त) प्रथम श्रुतस्कंधना
प्रथम चार अध्ययन पर्यंत 300/-

41. पंचसूत्र सटीक 300/-

42. गहुली संग्रह 300/-

43. सूरिमंत्रकल्पसमुच्चय भाग-1 300/-

44. सूरिमंत्रकल्पसमुच्चय भाग-2 300/-

45. स्त्रीनिर्वाणकेवलीभुक्ति प्रकरणे 300/-

46. जैसलमेर केटलोग - मूळकर्ता सी.डी. दलाल 300/-

47. श्री सिद्धभुवन प्राचीन स्तवन संग्रह 50/-

48. गुरुवाणी (पूज्यश्रीना प्रवचनोनो संग्रह) भाग-1 50/-

49. गुरुवाणी (पूज्यश्रीना प्रवचनोनो संग्रह) भाग-2 50/-
50. गुरुवाणी (पूज्यश्रीना प्रवचनोनो संग्रह) भाग-3 50/-
51. गुरुवाणी (पूज्यश्रीना प्रवचनोनो संग्रह) भाग-4 50/-
52. गुरुवाणी (पूज्यश्रीना प्रवचनोनो संग्रह) भाग-5 50/-
53. हिमालय नी पदयात्रा 50/-
54. अंतरिक्ष पार्श्वनाथ तीर्थ का इतिहास 50/-
55. नंदीसूत्र मलयगिरि विरचित वृत्ति सहित 300/-
56. અંતરિક્ષ પાર્શ્વનાથ તીર્થનો ઈતિહાસ 50/-
57. गुरुवाणी (हिन्दी) 1 50/-
58. गुरुवाणी (हिन्दी) 2 50/-
59. गुरुवाणी (हिन्दी) 3 50/-
60. गुरुवाणी (हिन्दी) 4 50/-
61. गुरुवाणी (हिन्दी) 5 50/-
62. हिमालय की पदयात्रा (हिन्दी) 50/-
63. नमस्कार स्वाध्याय (संस्कृत विभाग) 300/-
64. नमस्कार स्वाध्याय (प्राकृत विभाग) 300/-
65. अभिधर्मकोष कारिका 50/-
66. हस्तलीखीत ग्रंथो की सूची - 1 -
67. हस्तलीखीत ग्रंथो की सूची - 2 -
68. हस्तलीखीत ग्रंथो की सूची - 3

भूषण शाह द्वारा लिखित-संपादित हिन्दी पुस्तक

1. जैनागम सिद्ध मूर्तिपूजा 100/-
2. ● जैनत्व जागरण 200/-
3. ● जागे रे जैन संघ 30/-
4. पाकिस्तान में जैन मंदिर 100/-
5. पल्लीवाल जैन इतिहास 100/-

6.	दिगंबर संप्रदाय : एक अध्ययन	100/-
7.	श्री महाकालिका कल्प एवं प्राचीन तीर्थ पावागढ	100/-
8.	अकबर प्रतिबोधक कौन ?	50/-
9.	● इतिहास गवाह है।	30/-
10.	तपागच्छ इतिहास	100/-
11.	● सांच को आंच नहीं	100/-
12.	आगम प्रश्नोत्तरी	20/-
13.	जगजयवंत जीरावाला	100/-
14.	द्रव्यपूजा एवं भावपूजा का समन्वय	50/-
15.	प्रभुवीर की श्रमण परंपरा	20/-
16.	इतिहास के आइने में आ. अभयदेवसूरिजी का गच्छ	100/-
17.	जिनमंदिर एवं जिनबिंब की सार्थकता	100/-
18.	जहाँ नमस्कार वहाँ चमत्कार	50/-
19.	● प्रतिमा पूजन रहस्य	300/-
20.	जैनत्व जागरण भाग-2	200/-
21.	जिनपूजा विधि एवं जिनभक्तों की गौरवगाथा	200/-
22.	● अनुपमंडल और हमारा संघ	100/-
23.	अकबर प्रतिबोधक कौन ? भाग-2	200/-
24.	इशुख्रीस्त पर जैन धर्म का प्रभाव	50/-
25.	खरतरगच्छ सहस्त्राब्दी निर्णय	50/-
26.	प्राचीन जैन स्मारको का रहस्य	250/-
27.	जैन नगरी तारातंबोल : एक रहस्य	50/-
28.	जंबू जिनालय शुद्धिकरण	100/-
29.	प्राचीन भारत की यात्रा पद्धति	300/-
30.	शंकाए सही, समाधान नहीं.	50/-

भूषण शाह द्वारा लिखित/संपादित गुजराती पुस्तक

1. મંત્ર સંસાર સારં 200/-
2. ● જંબૂ જિનાલય શુદ્ધિકરણ 30/-
3. ● જાગે રે જૈન સંઘ 20/-
4. ● ઘંટનાદ
5. ● શ્રુત રત્નાકર (પૂ. ગુરૂદેવ જંબૂવિજયજી મ.સા. નું જીવન ચરિત્ર)
6. જૈનશાસનના વિચારણીય પ્રશ્નો 50/-

भूषण शाह द्वारा लिखित अंग्रेजी पुस्तक

1. ● Lights 300/-
2. ● History of Jainism 300/-

अन्य साहित्य

1. नवयुग निर्माता (पुनः प्रकाशन) (पू.आ. वल्लभसूरि म.सा.)200/-
2. मूर्तिपूजा (गुजराती–खुबचंदजी पंडित) 50/-
3. मूर्ति मंडन – आ. लब्धि सू.म. 100/-
4. हमारे गुरुदेव (पू. जंबूविजयजी म.सा. का जीवन) 30/-
5. सफलता का रहस्य – सा. नंदीयशाश्रीजी म.सा. 20/-
6. ધરતી પર સ્વર્ગ - સા. નંદીયશાશ્રીજી મ. 20/-
7. Heaven on Earth - SA Nandiyasha Shriji M.S. 20/-
8. कर्म विज्ञान 20/-
9. जडपूजा या गुणपूजा – एक स्पष्टीकरण (हजारीमलजी) 30/-
10. पुनर्जन्म – (सं.पू.आ. जितेन्द्रसूरिजी म.सा.) 30/-
11. क्या धर्ममें हिंसा दोषावह है ? 30/-
12. तत्त्व निश्चय (कुएँ की गुंजार पुस्तक की समीक्षा) -
13. बत्तीस आगमों से मूर्तिसिद्धि (आशिष तालेडा) 50/-
14. जैन ज्ञाति निर्णय 50/-

15.	श्वेतांबर दीगंबर समन्वय	200/-
10.	तपागच्छ इतिहास	100/-
11.	● सांच को आंच नहीं	100/-
12.	आगम प्रश्नोत्तरी	20/-
13.	जगजयवंत जीरावाला	100/-
14.	द्रव्यपूजा एवं भावपूजा का समन्वय	50/-
15.	प्रभुवीर की श्रमण परंपरा	20/-
16.	इतिहास के आइने में आ. अभयदेवसूरिजी का गच्छ	100/-
17.	जिनमंदिर एवं जिनबिंब की सार्थकता	100/-
18.	जहाँ नमस्कार वहाँ चमत्कार	50/-
19.	● प्रतिमा पूजन रहस्य	300/-
20.	जैनत्व जागरण भाग-2	200/-
21.	जिनपूजा विधि एवं जिनभक्तों की गौरवगाथा	200/-
22.	● अनुपमंडल और हमारा संघ	100/-
23.	अकबर प्रतिबोधक कौन ? भाग-2	200/-
24.	इशुख्रीस्त पर जैन धर्म का प्रभाव	50/-
25.	खरतरगच्छ सहस्त्राब्दी निर्णय	50/-
26.	प्राचीन जैन स्मारको का रहस्य	250/-
27.	जैन नगरी तारातंबोल : एक रहस्य	50/-
28.	जंबू जिनालय शुद्धिकरण	100/-
29.	प्राचीन भारत की यात्रा पद्धति	300/-
30.	शंकाए सही, समाधान नहीं.	50/-

भूषण शाह द्वारा लिखित/संपादित गुजराती पुस्तक

1.	મંત્ર સંસાર સારં	200/-
2.	● જંબૂ જિનાલય શુદ્ધિકરણ	30/-
3.	● જાગે રે જૈન સંઘ	20/-

4. ● ઘંટનાદ
5. ● શ્રુત રત્નાકર (પૂ. ગુરૂદેવ જંબૂવિજયજી મ.સા. નું જીવન ચરિત્ર)
6. જૈનશાસનના વિચારણીય પ્રશ્નો 50/-

भूषण शाह द्वारा लिखित अंग्रेजी पुस्तक

1. ● Lights 300/-
2. ● History of Jainism 300/-

अन्य साहित्य

1. नवयुग निर्माता (पुनः प्रकाशन) (पू.आ. वल्लभसूरि म.सा.) 200/-
2. मूर्तिपूजा (गुजराती–खुबचंदजी पंडित) 50/-
3. मूर्ति मंडन – आ. लब्धि सू.म. 100/-
4. हमारे गुरुदेव (पू. जंबूविजयजी म.सा. का जीवन) 30/-
5. सफलता का रहस्य – सा. नंदीयशाश्रीजी म.सा. 20/-
6. ધરતી પર સ્વર્ગ - સા. નંદીયશાશ્રીજી મ. 20/-
7. Heaven on Earth - SA Nandiyasha Shriji M.S. 20/-
8. कर्म विज्ञान 20/-
9. जडपूजा या गुणपूजा – एक स्पष्टीकरण (हजारीमलजी) 30/-
10. पुनर्जन्म – (सं.पू.आ. जितेन्द्रसूरिजी म.सा.) 30/-
11. क्या धर्ममें हिंसा दोषावह है ? 30/-
12. तत्त्व निश्चय (कुएँ की गुंजार पुस्तक की समीक्षा) -
13. बत्तीस आगमों से मूर्तिसिद्धि (आशिष तालेडा) 50/-
14. जैन ज्ञाति निर्णय 50/-
15. श्वेतांबर दीगंबर समन्वय 200/-